

परिशिष्ट

- विशिष्ट साहित्यकारों से साक्षात्कार
- संदर्भ ग्रंथ सूची
- आधार ग्रंथ
- सहायक ग्रंथ
- पत्र-पत्रिकाएँ
- वेबलिंक एवं अन्य संदर्भ
- अनुलग्नक (Annexures)

प्रसिद्ध लेखक, रंगकर्मी एवं पत्रकार अश्विनी कुमार पंकज से साक्षात्कार

प्रश्न. आदिवासी लेखन की ओर आपका रुझान कैसे बढ़ा?

उत्तर: साहित्य सृजन की ओर हमारा रुझान छठी-सातवीं क्लास के दौरान हुआ। इस रुझान के पीछे कहानी सुनने की रुचि थी जो हमारे भीतर दादाजी द्वारा सुनाई गई कहानियों से पैदा हुई थी। उनसे कहानियां सुन-सुनकर और-और कहानियों का चाव बढ़ता चला गया तो कहानी किताबों को पढ़ने लगा। कहानी पढ़ने की इस रुचि को नौटंकी, नाटक, सिनेमा ने भी बढ़ाया। इन सबके आकर्षण और इन सबसे बने मानस ने हमें रचनाकार बना दिया। आदिवासी विषयों पर राजनीतिक संस्कृतिकर्म तो लगभग 1985 में शुरू कर दिया था, परंतु सचेतन लेखन का काम 1990 के बाद शुरू किया। आरंभ लेखन से नहीं परफॉर्मेंस से यानी नाटकों से हुई। रांची में तब हमने 'उलगुलान संगीत नाट्य दल' की स्थापना की थी। यह 1983-84 की बात है। तब झारखंड आंदोलन के साथ हम एक वामपंथी संस्कृतिकर्मी के रूप में सक्रिय थे। उन दिनों बहुत सारे नुक्कड़ नाटक आदिवासी उत्पीड़न के खिलाफ समूचे झारखंड में किया। झारखंड की आदिवासी और क्षेत्रीय भाषाओं में नाटक समूहों का गठन किया। मुंडारी, कुड़ुख, नागपुरी-सादरी और पंचपरगनिया भाषाओं ने नाटक किए। साहित्यिक विमर्शों में झारखंड आंदोलन और आदिवासी मुद्दों को उठाया। इसके लिए लेख लिखा और कई सेमिनार-संगोष्ठियां की। फिर 1993 में राजस्थान के उदयपुर चला गया जहां आदिवासी आंदोलन की शुरुआत राजनीतिक और साहित्यिक-सांस्कृतिक स्तरों पर की। गोविंद गुरु के नेतृत्व में हुए मानगढ़ युद्ध, मेवाड़ क्षेत्र में हुए मोतीलाल तेजावत के एकी आंदोलन और शहीद कालीबाई पर भीली/वागड़ी भाषाओं में नाटक किए। वहां भी आदिवासी नौजवानों के नाटक दल बनाए। राजस्थान के आदिवासी आंदोलन पर एक पुस्तक और कई छिटपुट लेख लिखे।

2003 में वापस रांची लौटा और पूरी तरह से आदिवासी विषयक लेखन और संस्कृतिकर्म में लग गया। क्योंकि अब मैंने राजनीतिक तौर पर 'आदिवासियत' के विचार को आत्मसात

कर लिया था और यह समझदारी विकसित हो गई थी कि वामपंथ एक क्रांतिकारी विचार तो है पर उसकी सीमाएं हैं जिसे आदिवासियत के विचार से तोड़ा जा सकता था।

प्रश्न. सबसे पहले आपने किस विधा में लिखना शुरू किया?

उत्तर: सबसे पहले उपन्यास लिखा। कम से कम चार उपन्यासों की याद आती है जिन्हें मैंने सातवीं-आठवीं क्लास के दौर में लिखा था। उन दिनों गजल, गीत जैसी तुकबंदियां भी खूब करता था। इनमें से एक पैरोडीनुमा गीत उस समय जयपुर, राजस्थान से प्रकाशित एक हास्य-व्यंग्य की पत्रिका 'हवामहल' में छपी थी। मुझे साल याद नहीं है और न ही उसकी प्रति या वह गीत मेरे पास है। बहुत पहले खो गए। लेकिन जो चारों उपन्यास लिखा था, उन्हें मैंने खुद ही नष्ट कर दिया था, जब मुझे वास्तविक साहित्य की समझ हुई। इसी तरह से पचासों तुकबंदीनुमा गजलों और गीतों को भी जला दिया था। यह करीब आठवीं क्लास तक की बात है।

प्रश्न. आपके जीवन की कोई विशेष घटना जिसने आपके रचना कर्म और रचना-प्रक्रिया को प्रभावित किया?

उत्तर: ऐसी कोई घटना नहीं है। मेरा साहित्यिक मानस अलिफ-लैला, बैताल पचीसी, मुल्ला नसरुद्दीन के किस्से, पंचतंत्र, हितोपदेश जैसी लोकप्रिय परंपरा की कहानियों से लेकर, फैंटम, मोटू-पतलू, चाचा चौधरी, अमर चित्र कथा आदि कॉमिक्स, मनोहर व नूतन कहानियां जैसी पत्रिकाओं में छपने वाली सस्ती कथाओं, देवकीनंदन खत्री की चंद्रकांता-संतति सहित सभी तिलस्मी उपन्यास, इब्ने शफी बीए की जासूसी दुनिया और कर्नल रंजीत, जेम्स हेडली चेइज श्रृंखला के सारे उपन्यास, कुशवाहा कांत, गुलशन नंदा आदि के उपन्यासों को पढ़ते हुए आखिर में प्रेमचंद, शरतचंद्र, शेक्सपीयर, दोस्तोवस्की, टॉल्स्टाय, गोर्की आदि तक पहुंचकर विकसित हुआ। यह सब कच्ची उम्र के दिनों की बात है। यानी 1981 में मैट्रिक पास करने तक मैं हिंदी में उपलब्ध अच्छा-बुरा बहुत सारा साहित्य पढ़ गया था।

प्रश्न. आप अपनी रचनाधर्मिता के मूल में क्या मानते हैं?

उत्तर: हमारी रचनाधर्मिता के मूल में कहानी सुनना और कहानी कहने की परंपरा का ही योगदान है। क्योंकि यह मुझे अच्छा लगता था। उन शुरुआती दिनों में स्टोरीटेलिंग एक जादुई कला जैसी लगती थी। और हम सोचते, काश! मैं भी एक स्टोरीटेलर बन पाता। लेकिन जब साहित्य की समझ हुई तो मैंने बताया कि पहले की अपनी सारी गद्य-पद्य रचनाएं नष्ट कर दी थी। इसलिए कि वे साहित्यिक मानदंडों पर खरी नहीं थीं। उनमें केवल कल्पनाएं थीं। ऐसी कल्पनाएं जिनका मेरे आसपास के जीवन और समाज से कोई लेना-देना नहीं था। यहां तक कि मैं अपने लिखे हुए में स्वयं के जैसा व्यक्ति भी नहीं खोज पा रहा था। इसलिए फिर दो-चार सालों तक कुछ नहीं लिखा। आईएससी में पढ़ने के दौरान मैंने रंगमंच को अपनाया और नाटक करना शुरू किया। इसी दौर में उस समय की राजनीतिक हलचलों के फलस्वरूप कम्युनिस्ट विचारधारा से प्रेरित हुआ। जिसने मेरी रचनाधर्मिता को सोद्देश्य बनाया। कला जीवन से उपजती है और जीवन के लिए होती है इसको सचेतन रूप से समझा। पहले हमारी रचनाधर्मिता के मूल में वामपंथी उद्देश्य सर्वहारा की मुक्ति थी पर 2000 के आते-आते यह उद्देश्य आदिवासियत के लक्ष्य पर स्थानांतरित हो गया। यानी पहले सर्वहारा की मुक्ति मेरी सांस्कृतिक राजनीति थी पर अब आदिवासियत है। मैंने इस बात को समझा कि भारत ही नहीं वरन दुनिया के वामपंथी आंदोलनों में आदिवासियों, पिछड़ों, दलितों और स्त्रियों की एक सिरे से उपेक्षा की गई है और की जा रही है। उनके सवालों को, जो प्राथमिक हैं, वामपंथी संगठनों में भी दबाए गए। क्योंकि इन संगठनों के सर्वेसर्वा भी उन्हीं बीमारियों से ग्रस्त थे, जिनके खिलाफ वे तथाकथित सर्वहारा संघर्ष चला रहे थे। इस तरह मेरी सांस्कृतिक-राजनीतिक यात्रा जो क्रांतिकारी वामपंथ से आरंभ हुई थी वह आदिवासियत तक पहुंची। पिछले 20 सालों से मेरी रचनाधर्मिता के मूल में आदिवासियत है क्योंकि यह सबसे आदिम विचार है, आजमाया हुआ विचार है, आज भी प्रैक्टिस में है, जबकि साम्यवादी व्यवस्था अब भी एक यूटोपिया है।

प्रश्न. आप पत्रकारिता जगत से लंबे समय तक जुड़े रहे हैं। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं का आपने संपादन कार्य किया है। कृपया इस विषय में कुछ बताएं।

उत्तर: जब हम फुलटाइम पॉलिटिकल एक्टिविज्म में थे, तब पैसों का बड़ा अभाव रहता था। मेरे पिताजी डॉ. मधेश्वर शर्मा 'अवधेश' एचईसी में ('हेवी इंजीनियरिंग कार्पोरेशन'- एक मदर इंडस्ट्री, जिसकी स्थापना भारत में कल-कारखानों के विकास के लिए रांची में की गई थी) एक आम मजदूर थे। न तो उनकी इतनी कमाई थी कि वह हमें हमारी इच्छाओं के लिए पैसे देते और न ही उन दिनों बच्चों को पॉकट खर्च देने जैसा कोई प्रचलन था। इसलिए अपनी जरूरतों के लिए मैंने लिखना शुरू किया। रांची के दैनिक अखबार 'रांची एक्सप्रेस' और रांची आकाशवाणी में। जब पटना से हिंदुस्तान अखबार का संस्करण शुरू हुआ तो उसमें भी नियमित रूप से लिखने लगा। मैं तब केवल साहित्यिक-सांस्कृतिक विषयों पर ही रिपोर्टिंग करता और लिखता था। उन दिनों लोकतंत्र के चौथे स्तंभ के रूप में पत्रकारिता को बड़ा सम्मानित कर्म माना जाता था। इसलिए सोचा कि इसी को प्रोफेशन बनाऊंगा। पर दो-तीन सालों के भीतर ही समझ गया कि यह एक मिथ है जिसे पूंजीतंत्र ने गढ़ा है। मीडिया और पत्रकारिता भी जनविरोधी ही हैं। फिर उन्हीं दिनों स्थायी नौकरी के लिए नागपुर से शुरू हो रहे महाराष्ट्र के पहले हिंदी दैनिक में इंटरव्यू देने गया था। वह नौकरी मुझे सिर्फ इसलिए नहीं मिली कि मैं 'भद्रलोक' में पैदा नहीं हुआ था। तब मैंने फुलटाइम पत्रकारिता करने का विचार छोड़ दिया। हालांकि पैसे के लिए लगातार लिखता रहा।

1987 में मैंने भिखारी ठाकुर की जन्मशती के अवसर पर एक रंगमंचीय पत्रिका निकाली - 'बिदेसिया'। इसका प्रकाशन हिंदी मीडिया में रंगमंच और प्रदर्शककारी कलाओं को समुचित स्थान नहीं दिए जाने के कारण किया था। इसके दो ही अंक निकाले और बंद कर दिया। राजस्थान में था तो अपनी पार्टी का मुखपत्र 'हाका' का प्रकाशन और संपादन किया। यह एक मासिक राजनीतिक पत्र था। रांची लौटने के बाद 2003 के अंतिम दिनों में जब वंदना टेटे की

पहल पर 'झारखंडी भाषा साहित्य संस्कृति अखड़ा' नामक सांस्कृतिक संगठन की स्थापना हुई तो संगठन की त्रैमासिक बहुभाषाई आदिवासी-देशज पत्रिका की परिकल्पना की। 'झा.भा.सा.सं.अखड़ा' के नेतृत्व में शुरू हुए आदिवासी भाषा अधिकार आंदोलन के प्रसार और मजबूती के लिए 2006 में मासिक नागपुरी-सादरी पत्रिका 'जोहार सहिया' और फिर उसी साल एक बहुभाषाई पाक्षिक अखबार 'जोहार दिसुम खबर' निकालना शुरू किया।

इसके अलावा अनेक पत्र-पत्रिकाओं का अघोषित संपादन किया। उन सबके नाम याद नहीं हैं। इंटरनेट के आगमन से पहले तक दुनियाभर की जनता के पास आपसी कम्युनिकेशन का और वैचारिक-विमर्श को साझा करने का और कोई दूसरा माध्यम नहीं था। इसलिए जन-पत्रकारिता जरूरी थी। फिर गैर-आदिवासी दुनिया की जन-पत्रकारिता और साहित्य में आदिवासियों के लिए कोई जगह नहीं थी। इसलिए जन-पत्रकारिता से शुरू होकर आदिवासी-पत्रकारिता तक आया और इसे प्रोफेशनल तरीके से विकसित करने का प्रयास किया। आदिवासी युवा साहित्य, पत्रकारिता, फिल्म जैसे माध्यम में आएँ और उसे अपना प्रोफेशन बनाएं इसकी मुहिम सायास ढंग से चलायी।

प्रश्न. 'माटी माटी अरकाटी' उपन्यास की भूमिका में आपने लिखा है - 'बीमार लोग राजा की तरह दिखते हैं'। इससे आपका क्या अभिप्राय है?

उत्तर: यह आदिवासी कहावत दो संस्कृतियों - गैरआदिवासी संस्कृति और आदिवासी संस्कृति - के मूल दार्शनिक चिंतन को अभिव्यक्त करती है। अभिप्राय यह है कि गैरआदिवासी दुनिया की जो सामाजिक व्यवस्था है वह 'शक्ति' (सत्ता) केंद्रित है। जो किसी राजा या व्यक्तियों के खास समूह (जैसे, पंचायत, संसद ओर पोलित ब्यूरो) में निहित होती है और वे 'बहुमत' के आधार पर सत्ता को नियंत्रित करते हैं। पर यह तथाकथित बहुमत वास्तव में किसी एक खास धर्म, नस्ल, लिंग और विचार का प्रतिनिधित्व करती है। नतीजतन अल्पसंख्यक और अक्सर बहुसंख्यक भी इस व्यक्तिकेंद्रित सत्ता का शिकार बने रहते हैं। यह शक्ति केंद्रित पूर्वाग्रही गैरआदिवासी

व्यवस्था स्वस्थकर नहीं है इसीलिए इसका मुख्य कार्यवाहक 'बीमार' होता है। यही इस आदिवासी कहावत में सूत्र रूप में कही गई है।

प्रश्न. कथाकार अपनी रचनाओं में अपने अनुसार पात्र को गढ़ते हैं। पात्र उनके मन-मष्तिष्क की उपज होते हैं और अपनी सोच को पात्र के माध्यम से ही साकार करते हैं। 'माटी माटी अरकाटी' उपन्यास में पात्रों के सृजन की प्रेरणा कहाँ से मिली?

उत्तर: इसमें कोई संदेह नहीं कि रचनाकार का जो मानस होता है वही उसकी रचनाओं में उसके पात्रों द्वारा व्यक्त की जाती है। पूर्णतया तटस्थ होकर लिखने का अर्थ है अपने समय की सच्चाइयों से कट जाना। सृजन एक सोद्देश्य कर्म है। हम सबके सर्वोच्च सर्जक भी इससे अछूता नहीं है। पुरखा सृष्टि कथाएं बताती हैं कि उसे अकेलापन सताता था इसलिए उसने इंसान सहित जीव-जंतुओं और प्राकृतिक विविधाओं से भरी-पूरी धरती बनाई। यानी इंसान के जन्म का मूल कारण ही सामाजिकता और उसमें निहित सहजीवी अस्तित्व की परिकल्पना है। सर्वोच्च सर्जक द्वारा गढ़ा गया इंसान उसी की प्रतिकृति है। इसलिए यह बात उन इंसानों पर भी लागू होती है जो सृजन करते हैं।

'माटी माटी अरकाटी' सृजन के इस अनुशासन और नियम से अलग नहीं है। मुझे जो कहानी कहनी थी वह उन्हीं पात्रों के द्वारा रूपायित हो सकती थी वास्तव में वह जिनकी कहानी थी। इस उपन्यास के पात्रों का सृजन उन्हीं के बीच से संभव था। इसलिए मैंने कौंता और कुंती नामक दो मुख्य पात्रों का सृजन किया जो अपनी कहानी कह सकते थे। आदिवासी समाज से कौंता को और गैरआदिवासी समाज से कुंती को। कौंता का आदिवासी और कुंती का गैरआदिवासी होना ऐतिहासिक तथ्यों को ध्यान में रखकर किया। हम सभी जानते हैं कि आदिवासी लोग धरती के पहले बाशिंदे हैं जबकि गैरआदिवासी आर्यों का आगमन बाद में हुआ है। ये दोनों दो विश्वदृष्टियों और व्यावहारिक संस्कृतियों के निर्माता और अनुसरण करने वाले इंसानी समुदाय हैं। आदिवासी जहां सहजीवी पुरखा जीवनदर्शन के पालनकर्ता हैं वहीं

गैरआदिवासियों का जीवनदर्शन व्यक्तिकेंद्रित है। और यह दोनों के जीन में है। लेकिन लोकप्रिय स्थापना यही है कि व्यक्ति का निर्माण जीन से नहीं बल्कि विचार से होता है। पर दुनिया का इतिहास बताता है कि गैरआदिवासी समाज पिछले पांच हजार सालों से बुनियादी तौर पर बिल्कुल नहीं बदला है। अभी हाल में हुए जेनेटिक अध्ययनों का भी यही निष्कर्ष है कि हमारे जीने में ही 'वर्चस्ववादी प्रवृत्ति' है जिसके कारण होमो सेपियंस ने अपने समकालीन सभी इंसानी नस्लों (जैसे निण्डरथल, होमो इरेक्टस, डेनिसोवन आदि) को मार डाला। कौता और कुंती के सृजन के मूल में इसी भेद को उजागर करना है क्योंकि दोनों ही समाज के लोग 'कुली' थे पर उनमें से एक आगे चलकर शासक बना और दूसरे कुलियों को 'लील' गया।

प्रश्न. आदिवासी समाज में एक नया शिक्षित वर्ग उत्पन्न हुआ जो अपनी संस्कृति से दूर होता जा रहा है। तो आप शिक्षा के आने को किस दृष्टिकोण से देखते हैं?

उत्तर: आधुनिक शिक्षा शक्तिकेंद्रित एक औपनिवेशिक परिकल्पना है। यह ज्ञान की बजाय तकनीकी सूचनाओं और जानकारियों से लोगों को दक्ष करता है जो उनकी हिंसक अमानवीय व्यवस्था को चलाने में प्रतिभावान हो सकें। इसी चलते न केवल शिक्षित आदिवासी बल्कि अन्य समाज के लोग भी वही आचरण करते हैं, जो उसके मालिक करते हैं। शिक्षित व्यक्तियों का मुख्य ध्येय अपने मालिकों की अवस्था तक पहुंचना या उनका नकल करना होता है क्योंकि वे उनसे बेहतर जीवन जीते हैं। इसलिए हम देखते हैं कि खान-पान हो, रहन-सहन हो, जीवनशैली हो, अच्छे जीवन के मानदंड यही हैं। लिहाजा सभी लोग किसी राष्ट्र का सर्वोच्च शासक अथवा बिलेनियर बनना चाहते हैं। आदिवासियों का शिक्षित वर्ग भी गैरआदिवासियों के शिक्षित वर्ग की तरह इस सोच का शिकार है।

प्रश्न. आदिवासियों की अपनी स्वशासन व्यवस्था रही है। पंचायत व्यवस्था लागू होने के पश्चात् उनके स्वशासन व्यवस्था पर किस प्रकार का प्रभाव पड़ा?

उत्तर: 1950 के दौर में ही झारखंड के आदिवासियों ने गैरआदिवासी भारतीय 'पंचायत व्यवस्था' को नकार दिया था। लेकिन भारत सरकार ने संविधान की 5वीं अनुसूची की अवहेलना करते हुए इसे आदिवासी समाज पर थोप दिया। जब आजादी के पांच दशक बीतने को आए और आदिवासी लोगों का बड़ा हिस्सा भी संवैधानिक अधिकारों को जान गया तो सरकार ने 'पंचायत (अनुसूचित क्षेत्रों पर विस्तार) अधिनियम 1996' (पेसा एक्ट) पास कर पंचायती व्यवस्था को 5वीं अनुसूची के क्षेत्रों तक विस्तारित कर दिया। कहा गया कि इससे आदिवासियों को भी स्वशासन का अधिकार दे दिया गया है। क्योंकि सरकार के ही अनुसार भारतीय संविधान के 73वें संशोधन में देश में त्रिस्तरीय पंचायती राज व्यवस्था लागू की गई थी। लेकिन इसके प्रावधानों में अनुसूचित क्षेत्रों विशेषकर आदिवासी क्षेत्रों की आवश्यकताओं का ध्यान नहीं रखा गया था। यह संविधान की अंतर्विरोधी भावना को व्यक्त करता है। जिसमें 5वीं अनुसूची के तहत आदिवासियों की रूढ़िगत यानी स्वशासी व्यवस्था की रक्षा का संकल्प किया है तो पहले पंचायती व्यवस्था और फिर पेसा एक्ट के द्वारा उसे पूरी तरह से शून्य कर दिया गया है। जाहिर है इसका प्रतिकूल असर आदिवासी समाज पर पड़ा और उनकी परंपरागत स्वशासी व्यवस्था पूरी तरह से अप्रभावी होकर छिन्न-भिन्न हो गई। बाहरी पंचायती व्यवस्था और पेसा एक्ट दोनों ने आदिवासी समाज के नये-पुराने अंगुओं को पूंजी व शक्तिकेंद्रित व्यवस्था को बिचौलियों में बदल डाला।

गैरआदिवासी पंचायती व्यवस्था 'बहुमत' वाली है जबकि आदिवासी स्वशासन व्यवस्था नैसर्गिक सर्वसम्मति वाली है। नैसर्गिक सर्वसम्मति का अर्थ उस सोच से है जो गलत-सही या सच-झूठ को समान स्तर पर समझती है, और निर्णय लेने के लिए उसे यह बहस करने की जरूरत नहीं पड़ती कि गलत-सही या सच-झूठ क्या है। न ही इसे समझने के लिए उसे न्यायालय, न्यायाधीशों और गवाहों की जरूरत होती है। जबकि गैरआदिवासी पंचायती व्यवस्था में न्यायालय, न्यायाधीश और गवाहों के बहुमत के आधार पर फैसला सुनाते हैं।

प्रश्न. आदिवासी पहले रैयत नहीं थे। उनके जमीन को रैयती जमीन करार देकर उन्हें रैयत बना दिया गया। रैयत बनने के पहले और बाद में क्या परिवर्तन देखा गया?

उत्तर: आदिवासी इलाकों में आर्यों और मुगलों के आगमन तक जमीन का मालिकाना हक समुदाय में निहित था। जो कबीला (खूंट) अपने जीवनयापन के लिए कृषियोग्य जमीन बनाता था वह 'खूंटकट्टी' जमीन कहलाती थी जिस पर उसी खूंट विशेष का सामुदायिक स्वामित्व रहता था। रैयत की व्यवस्था गैरआदिवासी समाज में थी जहां समस्त जमीन का मालिक राजा और उसके द्वारा क्षेत्रीय स्तर पर राजस्व वसूलने के लिए नियुक्त बड़े-छोटे सामंत होते थे। इस तरह पूरी गैरआदिवासी प्रजा रैयत कहलाती थी। अधिक से अधिक राजस्व वसूली के लिए अंग्रेजों ने इस रैयती व्यवस्था को संपूर्ण भारत में विस्तारित और व्यवस्थित किया। उन्होंने जमींदार और ठेकेदार बनाकर गैरआदिवासी किसानों के साथ-साथ आदिवासियों को भी इसकी जद में ले लिया। जबकि अंग्रेजों से पहले न तो उनकी जमीन व्यक्तिगत स्वामित्व वाली थी और न ही वे गैरआदिवासी व्यवस्था की प्रजा अथवा रैयत थे। वे स्वशासी व्यवस्था वाले एक स्वतंत्र समाज थे। इसीलिए जैसे ही ब्रिटिश राज ने उनके स्वशासी व्यवस्था का अतिक्रमण करना शुरू किया वे युद्ध पर उतर आए। अठारह से बीसवीं सदी तक हुए निरंतर के आदिवासी युद्ध इसकी बानगी हैं जिन्हें बाबा तिलका मांझी युद्ध, बुधु भगत व लड़ाका कोल युद्ध, संताल हूल, तेलंगा खड़िया युद्ध, उलगुलान, भूमकाल, मानगढ़ युद्ध, जतरा टाना युद्ध आदि के रूप में जाना जाता है। जबरन रैयत बना दिए जाने से आदिवासियों की स्थिति आम गैरआदिवासी रैयतों से भी बदतर हो गई क्योंकि वे भूमि या अन्य प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग सिर्फ अपने भरण-पोषण के लिए किया करते थे। किसी को कर चुकाने या लाभ के लिए नहीं। रैयत बनते ही उनकी स्वतंत्रता छीन गई और जो हालत हुई उसका मार्मिक बयान हमें ब्रिटिशकालीन अनेक आदिवासी गीतों में मिलता है।

प्रश्न. आदिवासी समुदाय ने उपनिवेशवादी ताकतों के खिलाफ आंदोलन किया जो क्षेत्रीय स्तर तक सीमित रहा। उसे राष्ट्रीय पटल पर वह पहचान नहीं मिली जो मिलनी चाहिए थी। इस पर आपके क्या विचार हैं?

उत्तर: आदिवासी समुदाय एक संप्रभु समाज है। कभी किसी के मातहत नहीं रहा। इसलिए उसे आंदोलनकारी नहीं समझा जाना चाहिए। उसने अपनी संप्रभु स्वशासी व्यवस्था की रक्षा के लिए हमेशा औपनिवेशिक सत्ताओं से युद्ध किया है। चाहे वह आंतरिक बाहरी आर्यन हों या विदेशी ब्रिटिश आर्यन सत्ता। उसकी अतिक्रमण विरोधी कार्रवाइयों को दो सत्ताओं के बीच हुआ युद्ध कहना आदिवासी इतिहास और समाज के साथ न्याय होगा।

क्षेत्रीय और राष्ट्रीय शब्दों की राजनीतिक अवधारणा औपनिवेशिक है। ब्रिटिश शासन के पहले दुनियाभर में कहीं भी राष्ट्र नहीं थे। 'देस' थे, यानी एक खास सामाजिक व्यवस्था और संस्कृति वाले समाज का मूल क्षेत्र। तब गांव भी 'देस' कहलाते थे। वर्चस्ववादी आर्थिक हितों को ध्यान में रखकर 'राष्ट्र' की अवधारणा औपनिवेशिक शासकों ने गढ़ी है। क्षेत्र इसका 'रैयत' है। इसी वजह से क्षेत्रीय होना हीनता का बोधक है क्योंकि वह स्वतंत्र नहीं है। राष्ट्र का गुलाम है। इसीलिए जानबूझ कर राष्ट्रवादियों ने आदिवासी युद्धों को 'क्षेत्र' विशेष का क्षेत्रीय आंदोलन बताया। उसके प्रभाव और प्रसार को कम करने के लिए क्षेत्रीय संकीर्णता का मिथ खड़ा किया। ताकि उत्पीड़ित गैरआदिवासी आम जनता भी अपने स्वतंत्र पुरखौती देस के लिए एकजुट नहीं हो सकें। आप जानती हैं कि कोलकाता के भद्रजनों को जो 'राष्ट्रीयता' प्राप्त है वह सुदूर पुरुलिया की आम बंगाली जनता को उपलब्ध नहीं है। इसी तरह से दिल्ली ओर चेन्नई के लोग राष्ट्रीय कद के हैं जिनकी तुलना में ऊटी, रांची या रायपुर पिछड़े क्षेत्र हैं।

झारखंड के आदिवासी लोग अपने परंपरागत रहवास के क्षेत्रों को 'दिसुम' कहते हैं। ब्रिटिश शासकों ने इसका अंग्रेजी अनुवाद 'कंट्री' (मूल निवासियों का देश) किया। शेष भारत के गैरआदिवासी क्षेत्रों को उन्होंने 'प्रिंसले स्टेट' (राजा नियंत्रित क्षेत्र) के रूप में दर्ज किया। अंग्रेज

अधिकारियों ने अपने दस्तावेजों में आदिवासियों के 'दिसुम' (कंट्री) को कहीं भी कमतर नहीं आंका। लेकिन राष्ट्रवादियों ने इस परिभाषा को उलट दिया। शक्ति केंद्रित मुख्यालयों को अगड़ा और शेष को पिछड़ा बना दिया। इस तरह केवल आदिवासियों के इतिहास के साथ-साथ पिछड़े वर्गों और आम भारतीय गैरआदिवासी जनता के आंदोलन भी क्षेत्रीय माने गए। दोनों को ही तथाकथित 'राष्ट्र' के समाज और इतिहास में बराबरी का सम्मानजनक स्थान कभी नहीं मिला। पर जहां तक आदिवासी इतिहास का सवाल है तो गैरआदिवासियों की तुलना में आदिवासी समुदायों ने उसे अपनी-अपनी मातृभाषाओं और वाचिक परंपराओं में उसी त्वरा और ओज के साथ जीवित रखा, जैसा कि वह सदियों पहले थी।

मेरा मानना है कि राष्ट्र की अवधारणा काल्पनिक और औपनिवेशिक है। देस (क्षेत्र) ही वास्तविकता है। किसी भी व्यक्ति और समाज का निर्माण 'देस' विशेष की सांस्कृतिक और भौगोलिक संरचना से होती है। गांधीजी गुजराती थे, तो नेहरू जी प्रयाग के, डॉ. अंबेडकर महाराष्ट्र के और जयपाल सिंह मुंडा झारखंड के। हमारे आराध्य ईश्वरों में भी कोई काबा का है, कोई यरूशलेम का, तो कोई बदरीनाथ और कोई पंजाब का। सबकी पहचान क्षेत्र विशेष से जुड़ी हुई है। इसलिए क्षेत्रीय पहचान को मैं कमतर अस्मिता नहीं मानता। इन्हीं क्षेत्रीय पहचानों से 'देस' की भावना प्रबल होती है।

प्रश्न. आपकी आगामी योजनाएँ क्या हैं?

उत्तर: आगामी योजना नहीं बल्कि हर दिन की यही योजना है कि वह सब दोबारा कहूँ जो आदिवासी पुरखे कह गए हैं। उन कहानियों को फिर से सुनाऊँ जो हमें इतिहास को जानने और पुरखा आदिवासियत की दृष्टि को समझने में सहायक हो। जो वर्तमान को स्वस्थ और सुव्यवस्थित बनाने में मददगार हों। ताकि हम एक समतामूलक सहजीवी अस्तित्व वाली सामुदायिक दुनिया की पुनर्रचना फिर से कर सकें। जहां शक्ति किसी एक व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह में केंद्रित नहीं हो, पूरे समुदाय में हो।

इस दृष्टि से आने वाली इतिहासपरक रचनाओं में 'भारत का वाचिक आदिवासी इतिहास', 'आदिवासी महासभा का इतिहास', 'सौ वर्षों की विधायी लोकतांत्रिक व्यवस्था में आदिवासियों का हस्तक्षेप और योगदान', 'अ-आर्यन भारतीय इतिहास', 'भारत का जेल साहित्य' आदि प्रमुख हैं। कथात्मक रचनाओं में दो नये कहानी संग्रह - 'चाह की कहानियां' व 'बालेमा', और पांच उपन्यास - 'पहला गुरिल्ला' (जंगल संताल के जीवन और संघर्ष पर केंद्रित), 'अबरडीन के योद्धा' (अंडमानी आदिवासियों का इतिहास), 'दहदाहा के होड़' (पूर्णिमा के लीजेंडी आदिवासी नायक के जीवन और भूमि संघर्ष पर केंद्रित), 'सोमा' (ऋग्वेद का आदिवासी पाठ) और 'आजीवक योद्धा दार्शनिक मक्खलि गोसाल' (भारत के पहले दार्शनिक मक्खलि गोसाल के जीवन, दर्शन और संघर्ष पर आधारित) इस साल के खत्म होने तक आ जाने चाहिए। इसके अलावा कुछ और रचनाएं हैं जिनका छपना काफी समय से टलता आ रहा है।

विख्यात लेखक, पत्रकार और एक्टिविस्ट विनोद कुमार से साक्षात्कार

प्रश्न. आप अपनी रचनाधर्मिता के मूल में क्या मानते हैं?

उत्तर: हम कुछ कहना चाहते हैं। मेरे पास कहने के लिए कुछ है इसीलिए हम लिखते हैं। जिस दिन मेरे पास कहने के लिए कुछ रह नहीं जायेगा, तब शायद लिख नहीं पाएंगे। अपने पहले उपन्यास 'समर शेष है' में मुझे आदिवासी समाज, उसकी संस्कृति और उनके जीवन दर्शन को अभिव्यक्त करना था कथा के माध्यम से। सत्तर के दशक में शिबू सोरेन, कामरेड एके राय और विनोद बिहारी महतो के नेतृत्व में महाजनी शोषण व माफियागिरी के खिलाफ जो ऐतिहासिक संघर्ष हुआ था, उसे सबों को बताना था। 'रेड जोन' उपन्यास के माध्यम से हम माओवादी राजनीति के झारखंड में शुरुआत के प्रारंभिक दिनों, उसके फैलाव और उसके भीतर के अंतरविरोधों को रेखांकित करना था, साथ ही उस समानांतर संसार की भी जिसमें अतिवादी राजनीति पनपती है। हमारे आसपास जो भी घटनाएँ हो रही हैं, उसके बारे में जो समझ बनती है उसको कहना है, इसलिए हम लिखते हैं। चाहे उपन्यास, कहानी या साधारण सा लेख भी हो, हम तभी लिखने के लिए प्रेरित होते हैं जब मेरे पास कहने के लिए कुछ विशेष होता है।

प्रश्न. आदिवासी लेखन की ओर आपका रुझान कैसे बढ़ा?

उत्तर: मेरे विद्यार्थी जीवन का बड़ा हिस्सा आदिवासी क्षेत्र के बाहर ही बीता। हम मूलतः बिहार के रहने वाले हैं। पिताजी प्रशासनिक सेवा में थे और उनका हर जगह ट्रान्सफर होता था। एक तरह से कहें तो हम आदिवासियों के बारे में अपने विद्यार्थी जीवन में अनभिज्ञ थे। 74 के जेपी आंदोलन के समय में पटना के एक कॉलेज में पढ़ता था और उस आंदोलन में शामिल हो गए और उसके साथ सामाजिक सरोकार भी बढ़ा और उस क्षेत्र में काम करने की प्रेरणा भी मिली। विद्यार्थी जीवन में हमारी पीढ़ी के ज्यादातर युवा मार्क्स, गांधी, लोहिया, जेपी से प्रभावित होते थे। हम भी उन सबों से प्रभावित थे। 74 आंदोलन के बाद पहले एमरजेंसी, फिर चुनाव हुआ

और जनता पार्टी की सरकार बनी। तब जेपी का आह्वान हुआ कि जो लोग सामाजिक क्षेत्र में काम कर रहे हैं, यदि काम आगे भी करना चाहते हैं तो वे सघन क्षेत्र बना कर गाँव-ग्रामीण इलाकों में काम करें। उस समय झारखंड बना नहीं था। दक्षिण बिहार यानी आज के झारखंड का एक आदिवासी इलाका था पोटका (सिंहभूम)। उस समय जेपी के आह्वान पर छात्र युवा संघर्ष वाहिनी बनी थी। वैसे ही युवा उसके सदस्य बन सकते थे जो 14 से 30 वर्ष के थे। यह भी शर्त थी कि इस संगठन के सदस्य कभी किसी तरह का चुनाव नहीं लड़ेंगे, जाति व्यवस्था में विश्वास नहीं करेंगे और न जाति सूचक उपनाम रखेंगे तथा पूरी तरह शांतिमयता में विश्वास करेंगे। हमारी बुनियाद यही संगठन बनी। उस वक्त हमें नौकरी करने का ख्याल नहीं आया। जेपी के आह्वान के बाद कुछ लोग बोधगया में हो रहे महंत के खिलाफ भूमिहीन दलितों के आंदोलन में चले गये। कुछ अन्य इलाकों में, लेकिन हमें आदिवासी समाज में रुचि थी, सो मैं पोटका चला आया। यहाँ एक सामाजिक कार्यकर्ता के रूप में काम करने के दौरान मेरी बहुत सी प्रतिस्थापनाएँ, जो जेपी आंदोलन के दौरान बनी थी, जो गांधी और मार्क्स को पढ़कर बनी थी, वे बदलने लगी। आदिवासी जीवन को करीब से देखने का भी अवसर मिला। वहाँ हमारे मित्र थे कुमार चंद्र मर्डी। वे 74 के बिहार आंदोलन के दौरान पटना आया करते थे। उन्होंने कहा था कि यदि आपको आदिवासी इलाकों में काम करना हो तो मेरे यहाँ आइएगा। तो उसी परिचय के आधार पर एक दिन हम उनके यहाँ चले गए और उस इलाके में लगभग तीन-चार वर्ष तक काम किया। आदिवासी जीवन के प्रति आकर्षण बढ़ा और उनके जीवन दर्शन ने प्रभावित भी किया। यह भी कुछ इस कदर कि उसके बाद हम जो कुछ भी लिखते हैं वह आदिवासी समाज को केन्द्रित करके ही लिखते हैं। उसके इतर हम कुछ लिख ही नहीं पाए।

प्रश्न. आज विकास की अवधारणा बदल रही है। प्रचलित मान्यता से भिन्न विकास की नई एवं छद्म भरी अवधारणा देखने को मिल रही है। आदिवासी समाज के संदर्भ में वास्तविक विकास क्या है?

उत्तर: आजादी के बाद विकास का जो मॉडल आया, उसे नेहरू युगीन विकास मॉडल कह सकते हैं जो राजीव गांधी के जमाने तक चला। क्या था वह विकास मॉडल? खनिज सम्पदा का दोहन करके बड़े-बड़े कल-कारखाने लगाये गये। बड़े-बड़े बांध बने, जिनका लक्ष्य कहा तो गया कि सिंचाई भी है, लेकिन वे बिजली उत्पादन का केंद्र बन कर रह गयी और यह सब काम सार्वजनिक क्षेत्र में हुआ। नेहरू कल कारखानों को आधुनिक युग का मंदिर कहा करते थे और इससे वास्तव में देश की बुनियाद मजबूत हुई। समृद्धि के द्वीप समान अनेक औद्योगिक शहर सामने आये। ध्यान देने वाली बात यह है कि नेहरू के इस विकास का मॉडल की प्रयोगभूमि आदिवासी इलाके ही बने। डीवीसी जैसी बड़ी सिंचाई परियोजना, बोकारो, दुर्गापुर, भिलाई, राउरकेला के स्टील प्लांट, सीसीएल की प्रमुख खदाने, एचईसी, सिंदरी खाद कारखाना, सब तो आदिवासी इलाकों में ही स्थापित हुए। लेकिन नये युग के इन आधुनिक मंदिरों से आदिवासियों को न भगवान मिला, न प्रसाद, मिला तो विस्थापन का दंश। आरंभ में लोगों में उम्मीदें थी कि इस विकास का लाभ उन्हें भी मिलेगा। इसलिए बहुत ज्यादा विरोध नहीं हुआ। लेकिन वे बस विकास के खाद बन कर रह गये। मुआवजे के रूप में बहुत तुक्ष्य राशि, विस्थापित कॉलोनियों का नारकीय जीवन। नौकरी बहुत कम लोगों को मिली। उन्हें अनइस्किल्ड लेबर कहकर नौकरी नहीं दी गई और नौकरी मिली भी तो अत्यंत निम्न कोटि की नौकरी मिली। शुरू में यह स्वप्न भी दिखाया गया कि पाँच-दस वर्ष में लोगों को प्रशिक्षित करके उन्हें नौकरी दी जाएगी। लेकिन यह हुआ नहीं। उल्टे उनके जीवन का आधार छिन गया। पूरे देश में सबसे विपन्न तबका आदिवासी और दलितों को माना जाता है। लेकिन दलितों के पास अपनी झोंपड़ी बनाने के लिए भी जमीन नहीं थी। वे सामंतों की जमीन पर बसा कर रखे गये थे, जबकि गरीब से गरीब आदिवासियों के पास अपना घर, बाड़ी और खेती योग्य थोड़ी बहुत जमीन होती थी। गांव के समीप के वनों पर उनका अधिकार था। लेकिन नेहरू युगीन विकास मॉडल ने उनकी सामाजिक आर्थिक व्यवस्था की यह विशेषता छिन ली। पूरे देश में करीबन एक तिहायी से भी अधिक आदिवासी विस्थापन के शिकार हो गये। विकास के इस

मॉडल से देश का भला हुआ, आर्थिक स्थिति मजबूत हुई और बहिरागतों को फायदा हुआ, लेकिन इससे आदिवासियों को खास फायदा नहीं हुआ और आज की व्यवस्था तो और उनके लिए और बुरी है। सार्वजनिक प्रतिष्ठानों का दौर खत्म हो रहा है। उस जमाने के तमाम कल कारखाने बंदी के शिकार हो रहे हैं या कॉरपोरेट घरानों को कौड़ियों के मोल बेचे जा रहे हैं। आदिवासियों से बची खुची जमीन, वनों पर उनका बचा खुचा अधिकार उनसे बर्बर तरीके से छीना जा रहा है। राजसत्ता कॉरपोरेट के लठैत बन उनके इस काम में उनकी मदद करते हैं।

प्रश्न. आपने 'समर शेष है' उपन्यास में कहा था कि "यह जो आजादी मिली है वह अधूरी है। जब तक हम आर्थिक रूप से गुलाम रहेंगे तब तक हमारा जीवन नहीं बदलेगा।" यहाँ आर्थिक गुलामी से आपका क्या तात्पर्य है?

उत्तर: आजादी के बाद बहुत कुछ बदला है। अपनी सरकार चुनने का अधिकार मिला, डेमोक्रेसी है, लेकिन एक अर्थ में आजादी वास्तव में अधूरी है जो प्रबुद्ध लोग कहते हैं। यदि आप आर्थिक रूप से आजाद नहीं हैं, तो बहुत सारे मौलिक अधिकारों का कोई मतलब नहीं रह जाता है। जीवन के मूलभूत संसाधन निरंतर आम आदमी से छिनते जा रहे हैं। देश की कुल परिसंपत्ति के नब्बे फीसदी पर दस फीसदी लोगों का अधिकार है। हमारे देश में श्रम की प्रतिष्ठा नहीं और दुनिया में अपने देश में न्यूनतम मजदूरी निचले पायदान पर है। आज के दौर में हालत यह कि 80 करोड़ लोग सरकार से मिलने वाली मुफ्त या सस्ते राशन पर जिंदा रहने के लिए निर्भर हैं। हम कैसे कह सकते हैं कि आर्थिक रूप से हम आजाद हैं?

प्रश्न. आपके अनुसार साम्यवादी विचारधारा और आदिवासी दर्शन में क्या अंतर है?

उत्तर: मानव जाति का विकास हुआ तो प्रारंभिक स्थिति आदिम साम्यवादी व्यवस्था जैसी रही होगी। वर्ग नहीं बना था, श्रम विभाजन नहीं हुआ था, श्रम विभाजन के बाद ही अलग-अलग वर्ग बना और वर्ग बना तो वर्गीकृत समाज और वर्गों के आपसी टकराव से मानव जाति का इतिहास आगे बढ़ता है। कम्युनिस्ट मनिफेस्टो में यही कहा गया है कि मानव जाति का इतिहास वर्ग

संघर्षों का इतिहास रहा है, लेकिन आदिवासी समाज में वर्ग है ही नहीं। आदिवासी समाज में श्रम का उस तरीके से विभाजन नहीं हुआ था। हर आदिवासी अपने आप में स्वायत्त इकाई होता है। यानी वह खेती करने के साथ-साथ शिकार कर लेता है, अपना घर बना लेता है। दूसरी तरफ पाहन पुजारियों को भी अपने जीवन यापन के लिए खुद से खेती करनी पड़ती है। श्रम करना पड़ता है। जब मैं पहली बार आदिवासी इलाके में आया तो पाया कि यहाँ समाज वर्गों में नहीं बंटा है। इसलिए वर्ग संघर्ष वाली परिस्थितियाँ भी नहीं। संघर्ष का तरीका है, उसमें भी अंतर है। साम्यवादी दुनिया में ऊपर से चीजें तय होती हैं, पोलितब्यूरो या शीर्ष नेतृत्वकारी बॉडी जो तय करते हैं उस निर्णय का पालन नीचे के लोग भी करते हैं, उनका कैंडर करता है। आदिवासी समाज ठीक इसके विपरीत है। वहाँ अखड़ा संस्कृति है। यहाँ गाँव एक इकाई है और गाँव का हर बालिग सदस्य अखड़ा का हिस्सा होता है। सभी मसले मिलजुल कर तय करते हैं और उसी अनुसार कार्य करते हैं। अभी भी यह व्यवस्था चल रही है। यहाँ कोई पूंजीपति या सर्वहारा नहीं है। साम्यवादी विचारधारा का आधार 'सरप्लस वैल्यू का सिद्धान्त' माना जाता है। 'मुनाफा' ही विकास की प्रेरक शक्ति है। इसी प्रेरक शक्ति से समाज आगे बढ़ता है। आदिवासी समाज में ऐसा कुछ नहीं है। आदिवासी अतिरिक्त उत्पादन नहीं करता है। वह उतना ही उत्पादन करता है जिससे उसकी जरूरत पूरी हो। वह एक तरह से श्रम और आनंद की संस्कृति वाला समाज है जिसकी बुनियाद श्रमशीलता, सामूहिकता और समता है।

प्रश्न. बाहरी समाज से आदिवासियों के संपर्क को आप किस दृष्टि से देखते हैं?

उत्तर: हम आदिवासी समाज के लिए इसे एक चुनौती के रूप में देखते हैं। माना जा रहा है कि आर्य-अनार्य संघर्ष का एक लंबा दौर चला और उसी में सारे मिथकीय कल्पनाएँ आर्यों। आर्य ज्यादा आक्रामक थे इसलिए धीरे-धीरे आदिवासी समतल इलाकों से हटते गए, धीरे-धीरे जंगल, पहाड़ और कन्दराओं में आकर बस गए। दो सभ्यताएँ आपस में एक लंबे दौर तक टकराती रही और बाद में एक किस्म के संतुलन का दौर शुरू हुआ। मोटे रूप में हिमालय के नीचे, विंध्याचल के ऊपर, बायें पंजाब को छूती सीमाएं और दाहिने बनारस के इलाके के भौगोलिक

सीमा के बीच को मनुवादी व्यवस्था वाला क्षेत्र और उसके बाहर के इलाके को मनुवादी व्यवस्था के बाहर वाले क्षेत्र के रूप में चिन्हित कर सकते हैं जिसके दो प्रमुख घटक आदिवासी और द्रविड़ मूल के लोग हैं। अब मनुक्षेत्र के रूप में चिन्हित इलाके में तो बड़े-बड़े धार्मिक और राजनीतिक हलचल चलती रही, उसके बाहर के इलाकों में भरसक शांति रही। हिंदु राजाओं का दौर, फिर निरंतर आक्रमणों और मुगलों का दौर। फिर अंग्रेजों की गुलामी का दौर। इसकी तुलना में आदिवासी इलाकों में भरसक शांति। अपनी स्वायत्ता और प्रकृति के साहचर्य में स्वच्छंद जीवन। उत्तर भारत के राजे रजवाड़ों और मुगलों के लंबे दौर के दौरान आदिवासी इलाकों में बहुत कम हस्तक्षेप बाहरी दुनिया का रहा, लेकिन अंग्रेजों के आने के बाद स्थितियां बदलने लगी। औद्योगिक क्रांति, उसके साथ साम्राज्यवाद और औपनिवेशिक शोषण का दौर। अब तक उपेक्षित रहे वन क्षेत्र और जमीन के नीचे की खनिज संपदा अचानक महत्वपूर्ण हो गयी, इसलिए अंग्रेज आदिवासी इलाकों में अपनी पैठ की हरचंद कोशिश करने लगी। उन्होंने आदिवासी इलाके में हस्तक्षेप किया और दोनों समाज में टकराव हुआ। सौ वर्षों तक लगातार आदिवासी संघर्ष करता रहा। पहाड़िया विद्रोह, संथाल हूल से लेकर बिरसा का उलगुलान। वे अंग्रेजों से आखिरकार पराजित तो हो गये, लेकिन साथ ही अंग्रेजों को इस बात का एहसास भी कि आदिवासी एक बहादुर, खुद्दार और मेहनतकश लोगों का समाज है। यदि वे पलायन करते हैं तो फिर दुर्गम पहाड़ी इलाकों में खेती बारी कौन करेगा। इसलिए उन्होंने आदिवासियों के हित के अनेक कानून भी बनाये। उनकी भाषा, संस्कृति और इतिहास के क्षेत्र में अनेक खोज भी हुए। आश्चर्य होता है यह देख कर कि निरंतर बाहरी दुनिया से संघर्ष के बावजूद उनकी भाषा और संस्कृति अब तक बची हुई है। लेकिन संकट अब सामने है। अंग्रेजों के जाने के बाद आदिवासी अपनी स्वायत्त दुनिया, स्वशासन की अपनी प्रणाली और अपनी सामाजिक, आर्थिक व्यवस्था से एकबारगी संसदीय प्रणाली पर आधारित लोकतांत्रिक व्यवस्था में पहुंच गये। उन्होंने सामंतवाद का दौर नहीं देखा, राजतंत्र का युग नहीं देखा और एकबारगी लोकतांत्रिक व्यवस्था में पहुंच गये। कुछ लोगों का मानना है कि उनके स्वशासन की प्रणाली और लोकतांत्रिक

व्यवस्था में समानता है। लेकिन दोनों में एक सूक्ष्म अंतर है। आदिवासी समाज अब तक सर्वानुमति से चलता रहा है जबकि लोकतांत्रिक व्यवस्था और संसदीय प्रणाली बहुमत के आधार पर चलती है। अंग्रेजों के आने के बाद से आदिवासी इलाकों में बहिरागतों के प्रवेश का सिलसिला जो शुरू हुआ, वह बढ़ता ही गया। अपने इलाके में भी वे निरंतर अल्पसंख्यक बनते जा रहे हैं। झारखंड में उनकी आबादी का अनुपात 26 फीसदी रह गया है। उनका अपना जीवन दर्शन था, सामूहिकता थी, अखड़ा की संस्कृति थी, खूंटकट्टी व्यवस्था थी, सब धीरे-धीरे खत्म हो रहा है। अब जो दौर शुरू हुआ है, उसमें आदिवासियत कितने दिन तक बचेगी, उनकी भाषा-संस्कृति कब तक बची रहेगी, यह एक बड़ी चुनौती है आदिवासी समाज के लिए। उपभोक्तावादी संस्कृति प्रवेश कर रही है। उनके यहाँ एक एलीट क्लास पैदा हो गया, जो उसी ढंग से सोचता है जैसे बहिरागत समाज। आने वाले दिनों में दिखेगा कि कैसे इन बदली हुई परिस्थितियों का मुकाबला आदिवासी समाज करता है।

प्रश्न. आदिवासी समाज में स्त्रियों की स्थिति कैसी है और तथाकथित विकास का उन पर क्या प्रभाव पड़ा?

उत्तर: आदिवासी समाज में स्त्रियाँ ज्यादा क्रियाशील हैं। वे घर और बाहर दोनों जगह काम करती हैं। वे अधिक स्वावलंबी हैं और इस समाज में स्त्री-पुरुष में अपेक्षाकृत अधिक समानता भी है। यहां शेष भारत से लिंगानुपात बेहतर है। कन्या भ्रूण हत्या नहीं होती और बलात्कार अपवाद स्वरूप ही कभी कभार होता है। पर तथाकथित विकास और विस्थापन से स्त्रियों का जीवन ज्यादा प्रभावित हुआ है। प्रकृति के साहचर्य में ग्रामीण जीवन, और विस्थापित कालोनियों या शहर के झोपड़पट्टियों के जीवन में बड़ा अंतर है। खेत खलिहानों का काम और रेजा कुली के काम में भी अंतर है। अभी महानगरों में बड़े पैमाने पर आदिवासी क्षेत्र की लड़कियाँ जाती हैं, वहाँ काम करती हैं। तमाम घरेलू परिचारिका के रूप में उन्हें दैहिक शोषण झेलना पड़ता है। उनके सामने संकट यह है कि वे समझ ही नहीं पाती हैं कि बाहर की दुनिया कैसी है। वे अपने ही इलाके में रही हैं जहां औरत और मर्द में बड़ा सरल संबंध है। लेकिन बाहरी दुनिया कितनी

बर्बर है, इसका उन्हें एहसास ही नहीं है। इसलिए उन्हें बहुधा शारीरिक और मानसिक कष्ट झेलना पड़ता है। एक संकट यह भी हो गया है कि जो बाहर जाकर काम करती हैं वे एक तरह से अपने परिवार के लिए कुर्बान होती हैं। लेकिन बहिरागत संस्कृति के प्रभाव से अब महानगरों में काम करने वाली लड़कियों को आदिवासी समाज के युवा आसानी से स्वीकार नहीं करते। उन्हें 'दिल्ली रिटर्न' कह कर उनका तिरस्कार किया जाता है। उनको दोहरा संताप झेलना पड़ता है। इसके बावजूद आदिवासी लड़कियाँ लड़कों की तुलना में ज्यादा पढ़-लिख रही हैं। खेल के मैदान में भी उनका सिक्का जमता जा रहा है।

प्रश्न. आदिवासी स्त्रियों के लिए शहरी जगत अनुकूल है या नहीं, इस पर अपने विचार बताइये।

उत्तर: आदिवासी समाज बहुत हद तक औरत-मर्द की बराबरी वाला समाज है। हाल तक उस समाज में बलात्कार की घटनाएं रेयर थी, कन्या भ्रूण हत्या नहीं होती थी, सेक्स को लेकर वह उद्दीपन आदिवासी समाज में नहीं दिखायी देता जो गैर आदिवासी समाज या कहिये मनुवादी व्यवस्था वाले समाज में है। बाहर की दुनिया बर्बर दुनिया है। वह मानकर चलता है कि आदिवासी मनुष्येतर प्राणी है, इनके साथ कुछ भी किया जा सकता है। इसलिए अपने समाज में स्वच्छंद जीवन जीने वाली आदिवासी लड़कियां जब शहरों-महानगरों में पहुंचती हैं तो उन्हें इस बात का एहसास भी नहीं रहता कि वह दुनिया कितनी बर्बर है स्त्रियों को लेकर। इसलिए जो स्त्रियाँ बाहर जाती हैं उनको बहुत कुछ झेलना पड़ता है। वास्तविक जंगल में वे सुरक्षित हैं, लेकिन सभ्यता का जंगल उनके लिए बहुत बर्बर और हिंस्र पशुओं से भरा हुआ है। वे धीरे-धीरे समझदार होंगी, शिक्षित होंगी और दुनिया को समझेंगी तो शायद मुकाबला भी कर सकेंगी।

प्रश्न. आदिवासी समाज एवं संस्कृति को तहस-नहस करने में ब्रिटिश औपनिवेशिक चरित्र की अहम भूमिका थी, साथ ही बची खुची कसर आंतरिक उपनिवेशवाद ने पूरी कर दी। इस पर आपके क्या विचार हैं?

उत्तर: अंग्रेज जब भारत आए तो उनका उद्देश्य व्यापार करना था, लेकिन यहाँ के आंतरिक फूट का फायदा उठाकर वे यहां के शासक बन गये। उन्होंने आदिवासी इलाकों में जमींदारी प्रथा लागू करने का प्रयास किया, लेकिन यहाँ की स्थिति दूसरी थी। आदिवासी समाज में स्वशासन की अपनी एक अलग व्यवस्था थी जिसमें प्रचलित अर्थ में कोई राजा नहीं होता था, न किला और न सेना। जमीन भी व्यक्तिगत संपत्ति नहीं हो कर गांव की संपत्ति होती थी जिसे खूंटकट्टीदारी व्यवस्था के रूप में जाना जाता है। आदिवासियों की समझ है कि भूमि उन्हें किसी राजा या सामंत से नहीं मिली है, पूर्वजों से प्राप्त हुई है। इसलिए वे किसी को मालगुजारी देने के लिए तैयार नहीं होते थे। अंग्रेजों को यह बात समझने में काफी समय लगा। और जब समझा तब उन्होंने आदिवासियों का पलायन रोकने के लिए कई तरह के कानून बनाएँ जिसे एसपीटी, सीएनटी एक्ट आदि के रूप में हम आज भी देखते हैं। आदिवासियों की संस्कृति, समाज और भाषा को समझने के लिए भी उन्होंने काफी काम किये। लेकिन औद्योगिक क्रांति और विश्व युद्ध के दौरान आदिवासी इलाकों की खनिज संपदा और वनों का दोहन भी शुरू हुआ। अंग्रेजों के जाने के बाद आंतरिक औपनिवेशिक शोषण का एक नया दौर शुरू हुआ। कल-कारखाने स्थापित होने की वजह से बड़े पैमाने पर आदिवासियों का विस्थापन हुआ। धनबाद, बोकारो, रांची, टाटा जैसे बड़े-बड़े शहर आदिवासियों के असंख्य गांव उजाड़ कर ही बने। झारखंड की जेलों में वनों से अपनी जरूरत के लिए थोड़ी बहुत लकड़ी काटने के आरोप में असंख्य आदिवासी सजा काट रहे हैं, जबकि डीवीसी जैसी परियोजनाओं के लिए लाखों पेड़ एक साथ जलमग्न हो गये। कुल मिलाकर आंतरिक औपनिवेशिक दौर और ज्यादा खतरनाक साबित हुआ है।

प्रश्न. ईसाई मिशनरियों पर आरोप है कि उन्होंने आदिवासियों का धर्मांतरण करवाया, लेकिन इसके साथ यह भी बड़ा सच है कि आदिवासियों के उत्थान के लिए उन्होंने बहुत कुछ किया, जबकि हिन्दू संगठनों ने आदिवासियों के लिए कुछ खास नहीं किया। केवल वोट की राजनीति के लिए उनका हिंदुकरण कर रहे हैं। इस पर आपके विचार साझा करें।

उत्तर: ईसाई मिशनरियों के आगे पीछे साम्राज्यवादी शक्तियों का भी भारत में प्रवेश हुआ। उनमें पहले आपसी टकराव का दौर चला और आखिरकार अंग्रेजों का शासन भारत में कायम हो गया। चूंकि ईसाई राजधर्म था, इसलिए शुरुआती दिनों में कुछ सवर्ण हिंदू भी ईसाई बने। फिर दलित, जो हिंदू धर्म में सबसे निचले पायदान पर थे और सवर्णों की क्रूरता के शिकार बने। आदिवासियों में तो धर्मांतरण की शुरुआत शायद इसलिए हुई कि आदिवासियों को लगता था कि ईसाई बन जाने से उन्हें राजसत्ता का संरक्षण मिलेगा और उनकी जमीन की लूट नहीं होगी। एक अनुमान के अनुसार आदिवासियों की कुल आबादी का करीबन 15 से 20 फीसदी ईसाई बने। और इनमें से अधिकतर आजादी के पहले। लेकिन ईसाई मिशनरियों ने धर्मांतरण तो किया, साथ ही आदिवासियों में शिक्षा का प्रसार भी किया। सुदूर ग्रामीण इलाकों में उन्होंने स्कूल चलाये, अस्पताल शुरू किये। साथ ही आदिवासियों के इतिहास, भाषा और संस्कृति की खोज का काम भी। इस क्षेत्र में जितना बुनियादी कार्य उन्होंने किया, उतना बाद के वर्षों में नहीं हुआ। उन्होंने पूरी दुनिया के सामने इस तथ्य को उजागर किया कि भारत सिर्फ हिंदू और मुसलमानों का देश नहीं, यहां के मूलनिवासी आदिवासी हैं और जो एक उदात्त संस्कृति के बारिस हैं। इसके प्रतिक्रिया स्वरूप कट्टर हिंदू संगठनों ने अब तक उनकी वर्णवादी व्यवस्था से बाहर रहे आदिवासियों को हिंदू बताना शुरू किया। नारा दिया कि सरनासनातन तो एक ही है। उनके शुरुआती दिनों का एक नारा यह भी था - हम राम के वंशज हैं, तुम सेवक हनुमान। भले तुम 'वानर' रहे हो, लेकिन हमारा तुम्हारा रिश्ता तो सदियों पुराना है। संघ ने ईसाई मिशनरियों के समानांतर वनवासी कल्याण केंद्र के माध्यम से आदिवासी इलाकों में एकल विद्यालय खोले। लेकिन उनके बीच सेवा कार्य या शिक्षा का प्रचार प्रसार करने से ज्यादा उन्होंने मिशनरियों के खिलाफ विष वमन किया और धर्मांतरण को मुद्दा बना कर गैर ईसाई आदिवासियों का हिंदूकरण। हालांकि उनके पास इस प्रश्न का कोई जवाब नहीं कि संपूर्ण हिंदू वांगमय में जिसे दास, दस्यु, दानव, राक्षस, निशाचर आदि कह कर संबोधित करते रहे, उस पर अचानक उन्हें प्रेम क्यों उमड़ आया है? यदि आदिवासी हिंदू बनते भी हैं तो वे उसे अपनी वर्ण व्यवस्था के किस

पायदान पर रखेंगे? आदिवासी युवा अब इस खतरे को भांप रहे हैं, इसलिए संविधान में नये आदिवासियों के लिए अलग धार्मिक कोड की मांग कर रहे हैं।

प्रश्न. क्षेत्रीय राजनीति में तो आदिवासी मजबूत दिखायी देते हैं, लेकिन राष्ट्रीय राजनीति में उनकी भूमिका कमजोर दिखाई देती है। ऐसा क्यों है?

उत्तर: सच्चे अर्थ में लोकतंत्र वह होता है जिसमें हर आदमी की समान भागीदारी हो। आदिवासी समाज में यह प्रणाली पहले से थी। जब हमारे देश में संसदीय प्रणाली पर टिका लोकतंत्र आया, तो बहुतों ने कहा कि आदिवासियों में तो लोकतंत्र बहुत पहले से है। लेकिन नये लोकतंत्र और आदिवासियों में चले आ रहे लोकतंत्र में मुख्य अंतर यह था कि आदिवासी समाज सर्वानुमति से चलता है। आदिवासी लोकतंत्र की बुनियादी ईकाई ग्रामसभा और उसका विधानसभा 'अखड़ा'। किसी भी मुद्दे पर चाहे कितना भी समय लगे, बहस चलते रहता था और जब एक आम राय बन जाती थी, वही सर्वमान्य होता था। जबकि संसदीय प्रणाली पर टीका हुआ लोकतंत्र बहुमत के आधार पर चलता है। इसलिए अपनी स्वशासन व्यवस्था से संसदीय व्यवस्था में पहुंचना एक बड़ी छलांग थी और इसमें वे अभी भी मिसफिट हैं। वे इसके दांवपेच को समझ नहीं पाते हैं। दूसरी बात यह भी कि वे अपने क्षेत्र में ही अल्पसंख्यक होते जा रहे हैं। जहां उनकी आबादी किसी जमाने में शत प्रतिशत रही होगी, वहां अंग्रेजों के भारत छोड़ने के वक्त 52-55 फीसदी रह गयी और आज की तारीख में झारखंड में उनकी आबादी का अनुपात 26 फीसदी के करीब रह गया है। इसके अलावा दलगत राजनीति में चूंकि दल सर्व शक्तिमान होता है, इसलिए आरक्षण के बावजूद उनकी ताकत कम होती जा रही है। आदिवासियों के लिए 47 संसदीय सीटें आरक्षित की गई हैं और आदिवासी जन प्रतिनिधियों की अच्छी संख्या पहुँचती भी है, लेकिन आदिवासी हितों का प्रतिनिधित्व वे नहीं करते। आरक्षण यह तो सुनिश्चित करती है कि आरक्षित सीटों से आदिवासी ही खड़ा हो, लेकिन दलगत राजनीति में होता यह है कि वह जिस पार्टी से चुनाव

जीतता है, उसका गुलाम बन कर रह जाता है और उसकी नीतियों का समर्थन करने के लिए बाध्य होता है।

प्रश्न. उनके अंदर नेतृत्व करने की अंदरूनी शक्ति क्यों समाप्त होने लगी?

उत्तर: आदिवासी नेताओं की अपनी सीमा है। सबसे बड़ी समस्या है कि बाहरी आबादी के कारण आदिवासी अपने घर में ही अल्पसंख्यक होता जा रहा है। आदिवासी और गैर आदिवासियों के बीच एक ऐसा द्वंद्व है जो सदियों से चला आ रहा है जिसे इतिहास में आर्य-अनार्य संघर्ष के रूप में देख सकते हैं। वही संघर्ष अब तक बढ़ता आ रहा है। चुनावी राजनीति की वजह से झारखंडी संस्कृति टूटी है, खासकर आदिवासी और सदान के बीच विरोध पैदा हुआ है। एक महत्वपूर्ण तथ्य यह कि जहाँ भी बाहर के लोग आकर बसे हैं वे राष्ट्रीय पार्टियों के पक्ष में चले जाते हैं। इसलिए आदिवासी नेतृत्व की अपनी एक सीमा है और वे राष्ट्रीय नेतृत्व में नहीं आ पाते हैं। यदि आदिवासी राजनीति उस दुश्चक्र को तोड़ कर वंचितों की व्यापक राजनीति का हिस्सा बन जाये तो वह राष्ट्रीय स्तर पर नेतृत्व करने की क्षमता प्राप्त कर सकती है।

प्रश्न. 'समर शेष है उपन्यास में आपने बाबा के माध्यम से कहा है कि शेर, बाघ जैसे जानवरों की दहाड़ से दिग् दिगंत कांप जाता था। लेकिन वे उन लोगों से कम खतरनाक थे जो हमें मिटाने पर तुले हैं। इसका क्या अभिप्राय है?

उत्तर: आदिवासी जंगल-झाड़ में रहते थे। हिंस्र जानवरों के बीच। लेकिन जानवर भूखे रहने पर आक्रमण करते हैं। अपने तरीके से वे उनसे अपना बचाव भी कर लेते थे। लेकिन आदिवासी संस्कृति के समानांतर चलने वाली मनुवादी आर्य संस्कृति के लोग तो उनका सर्वस्व छीन लेने पर अमादा रहते हैं। यह अनादि काल से होता रहा है जिसे आर्य-अनार्य संघर्ष के रूप में हम इतिहास में देखते हैं और वर्तमान में कॉर्पोरेट घरानों की क्रूरता के रूप में देखते हैं। नियमगिरि क्षेत्र में बसे कंध आदिवासियों को वेदांता कंपनी तबाह करने पर तुली है, क्योंकि

जिन पहाड़ियों पर वे बसे हैं, उसके नीचे बॉक्सआईट है। अब बॉक्सआईट के उत्खनन के लिए वे उन निरीह, भोले भाले आदिवासियों को मिटाने पर तुले हैं। इन पंक्तियों का अभिप्राय यही है।

प्रश्न. आपके लेखन की आगामी योजनाएँ क्या हैं?

उत्तर: खूँटी में चले 'पत्थलगड़ी आंदोलन' का समर्थन करने की वजह से 19 अन्य सामाजिक कार्यकर्ताओं के साथ मुझ पर भाजपा सरकार ने 2018 में देशद्रोह का मुकदमा दायर कर दिया था, जिसे हेमंत सरकार ने सत्ता में आने के बाद वापस ले लिया। तो, उन तनावपूर्ण दिनों पर एक किताब तैयार है- 'देशद्रोही की डायरी' जिसके साथ 'पत्थलगड़ी का सच' भी रहेगा। यह किताब प्रकाशनाधीन है। कोरोना काल की त्रासद पृष्ठभूमि में लिखा गया एक लघु उपन्यास भी तैयार है। एक लंबी कहानी 'चंद्र अश्लील पन्ने डायरी के' साथ उसे प्रकाशित करने का विचार है। मैंने आदिवासी बस्ती में बच्चों को डेढ़ घंटे पढ़ाने का काम लंबे अरसे तक किया। उन अनुभवों को 'जीवन की पाठशाला' शीर्षक से प्रकाशित करने का विचार है। एक बृहद उपन्यास और रुक-रुक कर लिखा जा रहा है। वह उपन्यास 74 के आंदोलन और आदिवासी क्षेत्र में एक सामाजिक कार्यकर्ता के रूप में काम के दिनों के अनुभव पर आधारित है। कुल मिलाकर यही है।

सुप्रसिद्ध लेखक वाल्टर भेंगरा 'तरुण' से साक्षात्कार

प्रश्न: लेखनी के प्रति आपका रुझान कब से हुआ?

उत्तर: जब मैं खूँटी के संत मिखाएल मध्य विद्यालय से मिडिल की शिक्षा समाप्त की तो 1962ई. में रांची के संत जॉन्स हाई स्कूल में मेरा दाखिला आठवीं कक्षा में हुआ। जब नौवीं कक्षा में आया तो हॉस्टल की फीस नहीं चुका पाने के कारण मुझे घर भेज दिया गया।

यहाँ मुझे अपने पारिवारिक पृष्ठभूमि पर चर्चा करना आवश्यक होगा। मेरे पिता का साया उस समय उठ गया था जब मेरी उम्र महज पांच साल एक महीना की थी। मेरे पिताजी की मृत्यु के बाद परिवार का पूरा बोझ मेरी मेरी माँ के कंधों पर आ गया था। परिवार में हम तीन भाई और तीन बहनें थीं। मैं पांचवे नंबर था। मुझसे छोटी बहन माँ की गोद में थी, मात्र दो महीने की। परिवार में सबसे बड़ी दीदी थी, जो शायद उस समय मैट्रिक में रही होगी। मैंने तब स्कूल जाना आरम्भ ही किया था, जब पिताजी नहीं रहे। मां स्थानीय उर्सुलाइन कान्वेंट की सिस्टर्स के सिलाई केन्द्र में काम करती थी क्योंकि वे कम पढ़ी-लिखी थीं। पिताजी स्थानीय संत मिखाएल मिडिल स्कूल में शिक्षक थे। आमदनी का दूसरा सहारा थोड़ी बहुत खेती थी। इस कारण बचपन से ही मैं अभाव में रहा।

इसी कारण स्कूल और होस्टल की फीस समय पर जमा नहीं करने के कारण मुझे दो बार स्कूल से घर भेज दिया गया था। पहली बार जब मैं रांची के संत जॉन्स हाई स्कूल में नौवीं का छात्र था और दूसरी बार संत जेवियर्स हाई स्कूल, लुपुंगुटु, चाईबासा में दसवीं का छात्र था। जब मुझे चाईबासा के स्कूल से फीस नहीं चुका पाने के कारण घर भेजा गया, तो कई महीनों तक अपनी बड़ी मौसी के यहाँ दूर जंगल वाले गाँव में रहना पड़ा। तब सोचता था कि नौवीं के बाद आगे की मेरी पढ़ाई नहीं हो पायेगी। वहीं बकरियाँ चराता मैं पेन और कॉपी लेकर चट्टान पर बैठा कुछ गीत, कविता और नाटक लिखने लगा। जब वापस स्कूल लौटा, तो मैं लिखता ही गया। छोटी कहानियाँ और कविताएं। उन दिनों दिल्ली से प्रकाशित साप्ताहिक

‘संजीवन’ पत्रिका हमारे स्कूल में आती थी। उसमें मेरी कविताएं छपने लगीं। साथ ही मेरी पहली बाल कहानी ‘वह कौन थी?’ 4 अगस्त 1963 के अंक में छपी। इससे मुझे काफी प्रोत्साहन मिला। इसके साथ स्कूल और अन्य धार्मिक कार्यक्रमों के समाचार ‘संजीवन’ पत्रिका में भेजने लगा, तो एक तरह से मैं लेखक के साथ एक समाचार संवाददाता भी बन गया।

दसवीं कक्षा में आने के बाद प्रायः भविष्य के बारे में सोचने का समय आ जाता है। मैं एक औसत दर्जे का छात्र रहा। गणित और साइन्स विषय मेरे लिए बहुत कठिन होते थे। तब मैंने इस ओर विचार करना आरम्भ किया और कॉलेज की पढ़ाई के समय ही मैंने निश्चय कर लिया कि मुझे लेखन और पत्रकारिता के क्षेत्र में अपना भविष्य बनाना है इस तरह देखा जाए तो युवावस्था की भावुकता और अभाव ने ही मुझे लेखन की ओर धकेला।

प्रश्न: साहित्य के अंतर्गत आपकी प्रिय विधा कौन-सी रही है और क्यों?

उत्तर: आरम्भ में मैं कविताएं और गीत लिखा करता था। भारत चीन युद्ध के बाद देशभक्ति के गीतों के साथ चर्च में गाये जाने वाले धार्मिक गीत आदि लिखने लगा। उन दिनों हिन्दी में छन्दों वाली कविताओं का प्रचलन था। लेकिन अधिक दिनों तक कविताएं नहीं लिख पाया। जब मेरी पहली कहानी प्रकाशित हुई, तो मैंने कहानी लेखन पर ही स्वयं को केन्द्रित कर लिया। इसलिए आप कह सकती हैं कि मुझे कहानी विधा ही अच्छी लगी। आज भी मैं कहानियों को ही प्राथमिकता देता हूँ। कॉलेज आने के बाद उपन्यास लिखने का प्रयास किया। हमारे समय ग्यारहवीं कक्षा में मैट्रिक की परीक्षा होती थी। इसके बाद कॉलेज का पहला वर्ष प्री यूनिवर्सिटी कहलाता था। उसके उपरान्त तीन वर्षों का डिग्री कोर्स होता था। इसमें भी पास कोर्स या ऑनर्स कोर्स होते थे। मैंने मैट्रिक परीक्षा लिखने के बाद प्री यूनिवर्सिटी कोर्स की पढ़ाई संत जेवियर्स कॉलेज, रांची से की। कॉलेज के दिनों में रांची से प्रकाशित ईसाई मिशनरी मासिक हिन्दी पत्रिका ‘निष्कलंका’ में भी मेरे कुछ आलेख और कहानी व कविताएं छपीं। उसी दौरान मैंने अपना पहला उपन्यास ‘टूटा धागा’ लिखा था। युवावस्था की भावुकता भरी घटनाओं और मित्रों

के बीच के सम्बन्धों को आधार बनाकर यह पहला उपन्यास हस्तलिखित रूप में अभी भी वैसी ही कॉपियों में पड़ा है। आज उसे पढ़ने पर अत्यन्त बचकाना सा लगता है। हाँ, आगे चलकर मैंने दो उपन्यास लिखे जिसे आप आदिवासी जीवन से जोड़ सकते हैं। 'शाम की सुबह' और 'लौटते हुए'। इन पर हम आगे चर्चा करेंगे।

प्रश्न: आप लम्बे समय तक पत्रकारिता से जुड़े रहे। पत्रकारिता क्षेत्र में आपको जिन चुनौतियों का सामना करना पड़ा, उसके बारे में बतायें।

उत्तर: जैसा कि मैंने पहले बताया कि हाई स्कूल के दिनों में ही मैं 'संजीवन' हिन्दी साप्ताहिक के लिए स्थानीय संस्थाओं के कार्यक्रमों के समाचार भेजने लगा था और छपते भी रहे। गैजुएशन के बाद कैरियर के लिए मेरे सामने कुछ भी स्पष्ट नहीं था कोई भी रास्ता। कॉलेज में मैंने हिन्दी ऑनर्स विषय रखा था। लेकिन लगातार अस्वस्थ रहने के कारण मुझे 'ऑनर्स' की डिग्री नहीं मिली। तब एम.ए. हिन्दी के लिये मैं इलाहाबाद यूनिवर्सिटी जाना चाहता था, लेकिन परिवार वालों ने, विशेषकर मेरे सबसे बड़े भाई जो भारतीय सेना में थे, आर्थिक मदद देने में अपनी असमर्थता जतायी। मैं मान गया।

अब स्नातक डिग्री लेकर तत्काल रोजगार के लिए मैंने अपने संत जेवियर्स हाई स्कूल, चाईबासा के हेडमास्टर से संपर्क किया। उन्होंने मेरा आवेदन स्वीकार कर हिन्दी अध्यापक के रूप में रख लिया। बहुत कम मानदेय था उन दिनों। हाँ, भोजन और आवास की मुफ्त व्यवस्था थी। आठवीं और नौवीं कक्षा में मुझे हिन्दी पढ़ाना था। इसी दौरान भारतीय डाक विभाग में पोस्टल क्लर्क का विज्ञापन निकला तो मैंने भर दिया। इसके लिए मुझे प्रशिक्षण के लिए दरभंगा बुलाया गया। मार्च 1971 में मैं स्कूल शिक्षक का काम छोड़कर दरभंगा पहुंचा। लेकिन वहाँ बताया गया कि मेरा नाम काट दिया गया है। बहुत अनमना सा लगा। मैं पटना अपने मित्र के पास आया। वहाँ कोई प्राइवेट जॉब की जानकारी ली, लेकिन तत्काल कोई नौकरी नहीं मिली तो वापस अपने घर खूँटी लौट आया। मेरी माँ बहुत निराश हुई। फिर भी मैं इधर-उधर

जानकारी लेने के साथ संवाददाता का काम करता रहा। हालाँकि उसके लिए मुझे कुछ भी पैसे नहीं मिलते थे।

गर्मी की छुट्टियों के बाद जब स्कूल खुले, तो खूँटी से बीस किलोमीटर दूर तोरपा के एक बालिका हाई स्कूल की हेडमिस्ट्रेस ने मुझे लीव वैकेन्सी पर हिन्दी पढ़ाने के लिए आमंत्रित किया। उनके हिन्दी पंडित बीमार पड़ गये तो उनकी जगह दो महीनों तक पढ़ाने के लिये बुला लिया। लेकिन दो महीने से छः महीने तक मुझे वहाँ हिन्दी और भूगोल पढ़ाना पड़ा। इसी दौरान नयी दिल्ली में 'संजीवन' के संपादक-प्रकाशक ने दस महीने के लिए एक पत्रकारिता कोर्स का आयोजन किया 1972 जनवरी से। उसके लिए मैंने आवेदन भेजा और मेरा चयन हो गया। क्योंकि मैं पत्रकारिता के क्षेत्र में जाना चाहता था, जिसके लिये उचित प्रशिक्षण आवश्यक समझता था।

नयी दिल्ली में स्टेट्समैन बिल्डिंग के निकट हमारे लिए पत्रकारिता प्रशिक्षण कार्यक्रम आयोजित किया गया था। प्रशिक्षण अंग्रेजी में दिया जा रहा था। कॉलेज में मेरा मुख्य विषय हिन्दी था, इस कारण अंग्रेजी में मुझे काफी कठिनाई हो रही थी। उन दिनों रिपोर्टिंग के लिए शॉर्ट हैंड बहुत आवश्यक माना जाता था। शॉर्ट हैंड में मैं काफी अच्छा था। बाकी पत्रकारिता की बेसिक-रिपोर्टिंग, फीचर राइटिंग, एडिटिंग के लिए प्रूफ रीडिंग, इंटरव्यू तकनीक आदि का प्रशिक्षण देने के लिए दिल्ली के विभिन्न अखबारों के नामी पत्रकार हमारे संस्थान में आते थे। इंटरनशिप के लिए मुझे समाचार एजेंसी 'यू एन आई' और 'स्टेट्समैन' भेजा गया। अनुभव अच्छे रहे।

पत्रकारिता प्रशिक्षण के लिए नयी दिल्ली में रहना मेरे लिए आर्थिक रूप से काफी कठिनाई भरा रहा। मई-जून महीना आते-आते मेरे लिए आर्थिक कठिनाई होने लगी। इसके लिए मैंने एक जर्मन स्वयं सेवी संगठन से एजुकेशन लोन के लिए आवेदन किया। वे नर्सिंग और तकनीकी पाठ्यक्रमों के लिए आर्थिक मदद देते थे, लेकिन पत्रकारिता प्रशिक्षण के लिए

अब तक किसी को स्कॉलरशिप जैसी कोई मदद नहीं दी गयी थी। फिर भी उसके डायरेक्टर ने मेरे आवेदन पर गौर कर शीघ्र सूचित करने का आश्वासन दिया। मैं आशान्वित था, लेकिन सप्ताह बीतते ही डायरेक्टर महोदय का हृदय गति रूक जाने से अचानक देहान्त हो गया। इसके साथ ही मेरी आशा निराशा में बदल गयी। मेरे परिवार से आर्थिक मदद नहीं मिली एक महीने तक। मित्रों ने ढाढ़स बंधाया। किसी तरह हम तीन सहपाठियों ने करोल बाग वेस्ट एक्सटेंशन एरिया इलाके में एक बरसाती कमरा किराये पर लिया और वहाँ शिफ्ट हो गये, होटल के कमरे से यह काफी सस्ता था। फिर मैंने प्रशिक्षण केन्द्र के निदेशक के सामने अपनी समस्या रखी, तो उन्होंने रांची के चर्च अधिकारियों से संपर्क किया। वहाँ से प्रशिक्षण शुल्क अदा कर दी गयी। बस अपना रहने-खाने का खर्च उठाना था। वह इधर-उधर से किसी तरह जोगाड़ होता रहा। कई बार मात्र पचीस पैसे बस भाड़ा बचाने के लिए शाम को हम कनाट प्लेस, पंचकुड़ियाँ मार्ग होते हुए पैदल ही करोल बाग चले आते थे। तो समय काफी कठिनाइयों से भरा था।

अक्टूबर 1972 ई. का समय हमारा पत्रकारिता का सर्टिफिकेट कोर्स पूरा हुआ और हमें सर्टिफिकेट मिल भी गया। अब सर्टिफिकेट लेकर नौकरी ढूँढो। दिल्ली में एक मित्र परिवार, जो पूसा एग्रीकलचर संस्थान में सेवारत थे, उन्होंने सुझाव दिया कि कुछ महीने तक दिल्ली में मैं रुककर काम की तलाश करूँ। लेकिन दिल्ली में खाली हाथ रुकना बहुत कठिन था। 'स्टेट्समैन' दिल्ली के संपादक राव साहब ने मुझे एक सिफारिशी पत्र देकर पटना से प्रकाशित अंग्रेजी दैनिक 'सर्चलाइट' के संपादक के पास भेजा।

वर्ष 1971 में बांग्लादेश बना। पूर्वी पाकिस्तान की जगह बांग्लादेश बना। युद्ध के कारण वहाँ के उद्योग और अर्थव्यवस्था ध्वस्त से हो गये थे। अखबारों के लिये न्यूजप्रिंट का कागज सबसे अधिक ढाका से आता था। अखबारों को न्यूजप्रिंट का कोटा आवंटित कर दिया गया। अर्थात् लगभग एक तिहाई काम कागज अखबारों को मिलने लगा। परिणाम अखबारों ने पृष्ठों

की संख्या घटा दी। इस तरह स्टाफ की संख्या में भी कटौती कर दी गयी। जब मैं पटना पहुँचा तो सर्चलाइट अंग्रेजी दैनिक के संपादक ने जानकारी दी कि अखबार बंद हो रहा है। अब कोई रास्ता नहीं था मेरे सामने। पटना में मेरे एक एंग्लो बर्मी मित्र रहते थे-मिस्टर एलेन जोहानेस। यूँ ही उनसे मिलने उनके कार्यालय पहुँचा। उन्होंने बताया कि पटना के गोलघर के पास स्थित नवदीप्ति सदन से 'संकल्प' नाम की एक अनियमित हिन्दी युवा पत्रिका पटना स्थित कॉलेजों के छात्रों द्वारा पटना जेसुइट संस्थान के आर्थिक सहयोग से प्रकाशित किया जा रहा है। उन्हें एक नियमित संपादक की आवश्यकता है ताकि इस पत्रिका को मासिक के रूप में नियमित प्रकाशित किया जा सके। मित्र की सलाह पर मैं नवदीप्ति सदन, गोलघर, पटना पहुँचा और पत्रिका के प्रकाशक फादर जोस कनानाइकल से मिला। उनसे खुलकर बातचीत हुई। बातचीत के बाद उन्होंने मुझे फुलटाइम पत्रिका का संपादक बनने के साथ सदन की लाइब्रेरी सह-वाचनालय की देख-रेख करने का ऑफर दिया। वेतन मात्र दो सौ रुपये प्रतिमाह। मुझे नौकरी की तलाश थी, तो मैंने ऑफर स्वीकार कर लिया। हिन्दी की पत्रिका थी और स्वतंत्र होकर उसे संपादित करना था मुझे छात्र-छात्राओं के सहयोग से।

मेरे ज्वाइन करने के साथ ही पत्रिका का पंजीयन 'कृतसंकल्प' हिन्दी युवा मासिक के रूप में हो गया। इसका संपादन मैंने 1980 तक किया। लेकिन यह समय भी उतना आसान नहीं था। मासिक वेतन दो सौ रुपयों से मुझे अपनी छोटी बहन जो रांची के संत जेवियर्स कॉलेज में पढ़ रही थी, उसकी फीस देनी थी। पटना में रहने के लिये किराये का मकान लेना था और अपने भोजन की व्यवस्था। उस समय भी महँगाई थी। फिर भी मैं काम करता रहा। 'कृतसंकल्प' पत्रिका में मैंने अनेक प्रयोग किये। युवाओं के बीच लोकप्रिय और सर्कुलेशन बढ़ाने के लिए विभिन्न स्तम्भों की शुरुआत की, जिससे थोड़े ही समय में यह लोकप्रिय होने के साथ अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी युवा पत्रिका की श्रेणी में आ गया। संयुक्त राष्ट्रसंघ की युवा पत्रिकाओं की लिस्ट में शामिल होने के साथ इसके पाठक और ग्राहक मॉरीशस, फीजी, जर्मनी, दक्षिणी अमरीकी देशों तक पहुँच गये।

जब सही ढंग से पत्रिका चलने लगी तो मैंने हिन्दी में एम.ए. की पढ़ाई पूरी करने की सोची। पटना यूनिवर्सिटी में एडमिशन चल रहा था। मैंने अपने प्रकाशक महोदय से नियमित छात्र के रूप में एम.ए. में एडमिशन लेने के लिए अनुमति मांगी, उन्होंने मेरी बात मान ली। यों मुझे नवदीप्ति सदन के कार्यालय में सुबह आठ से बारह बजे तक और शाम के समय चार बजे से आठ बजे रात्रि तक रहना होता था। छपाई के समय दीघाघाट स्थित संजीवन प्रेस जाना भी पड़ता था। इस काम में कोई बाधा नहीं थी क्योंकि एम. ए. के क्लासेस ग्यारह बजे आरम्भ होते थे। सब कुछ ठीक-ठाक चल रहा था कि देश में आपातकाल लागू हो गया। जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में पटना में जन आन्दोलन दिनों दिन तेज होता जा रहा था। पटना यूनिवर्सिटी के छात्र इस आन्दोलन में कूद पड़े। कभी भी यूनिवर्सिटी के छात्रों और पुलिस की झड़प पटना के अशोक मार्ग हो जाती। आपातकाल के दौरान अखबारों और पत्र-पत्रिकाओं पर 'सेंसरशिप' लागू कर दिया गया। पत्रिका प्रकाशित होने से पूर्व सामग्री को सरकारी अधिकारियों के सामने रखना होता था। वे एक-एक पृष्ठ और पंक्तियों को देखते-पढ़ते और उनकी दृष्टि से आपत्तिजनक होने पर उसे हटाने का आदेश मिलता था। पंक्तियों को काला करने का निर्देश मिलता। यह बड़ा कष्टदायक समय था पत्रकारिता के लिये। इस तरह नियमित कक्षा में बैठना कठिन होने लगा। पत्रिका का प्रकाशन भी समय पर होना आवश्यक था। जयप्रकाश नारायण का आन्दोलन इतना तीव्र हो गया कि यूनिवर्सिटी जाना बन्द करना पड़ा मुझे। मैं इस कारण एम.ए. की परीक्षा में शामिल भी नहीं हो सका। इसका मलाल रहेगा हमेशा।

आगे चलकर 1980 में पत्रिका के नये प्रबंधक के साथ वेतन को लेकर मतभेद हो गया मेरा। इसके कारण मैंने स्वेच्छा से 'कृतसंकल्प' पत्रिका का संपादन कार्य छोड़ दिया। मेरा मानना था भीख मांगा जाता है लेकिन वेतन दिया जाता है। वह भी समय पर। अंततः मैं रांची शिफ्ट हो गया 1980 के मई माह में।

मेरा विवाह दिसंबर 1979 ई. में हो गया था। पत्नी के साथ रांची में रहते हुए 1981 ई. से हमने 'जग ज्योति' हिन्दी पाक्षिक समाचार पत्र प्रकाशित करना शुरू किया था। चूँकि नयी दिल्ली से प्रकाशित 'संजीवन' साप्ताहिक बंद हो चुका था। यह अखबार मुख्यतः हिन्दी क्षेत्र के ईसाई समुदाय के लिए प्रकाशित होता था। उसके बंद होने से एक रिक्तता आ गयी।

'जग ज्योति' पाक्षिक पत्रिका के संपादन, प्रकाशन के साथ उसके सर्कुलेशन का काम भी हम दोनों पति-पत्नी ही करते थे। डाक से भेजी जानेवाली ग्राहकों की प्रतियों के अतिरिक्त रांची के निकटवर्ती शहरों जैसे गुमला, सिमडेगा, हजारीबाग के लिए हम लोकल बसों के माध्यम से पत्रिका के बंडल बस चालकों के द्वारा भेजा करते थे। बहुत ही परिश्रम का काम होता था। उसके साथ-साथ बड़ी घटनाओं के समाचार कवरेज के लिए मुझे स्वयं जाना पड़ता था। उन दिनों रांची में बिजली की आपूर्ति बहुत ही अनियमित होती थी। ऐसी परिस्थिति में छपाई के लिए प्रेसों में रात-रात भर बैठना पड़ता था, ताकि समय पर पत्रिका निकले। इस कारण हमने एक पुराने बंद पड़े प्रिंटिंग प्रेस को लीज पर लेने की सोची। लेकिन यह कदम सफल नहीं हो पाया। इस चक्र में हमारी काफी पूंजी डूब गयी। अंततः 'जग ज्योति' पाक्षिक का प्रकाशन 1986 ई. में स्थगित करना पड़ा।

हम जुलाई 1986 ई. में जमशेदपुर शिफ्ट हो गये। मेरी पत्नी को टाटा मोटर्स हॉस्पिटल के नर्सिंग स्कूल में नर्सिंग ट्यूटर की नौकरी आवास के साथ मिल गयी। हमारे दो बच्चे थे। बड़ी बेटी का लिट्ल फ्लावर स्कूल, टेल्को में एडमिशन हो गया। बेटा छोटा था जिसे कॉलोनी के ही एक निजी प्ले स्कूल में दाखिला करा दिया हमने। 'जग ज्योति' पाक्षिक के संपादन-प्रकाशन के साथ मेरा रिपोर्टिंग का काम जारी था। मुंबई में 'साउथ एसिया रीलिजियस न्यूज सर्विस' की स्थापना की गयी थी, जिसके संस्थापक सदस्य के रूप में मैंने तत्कालीन बिहार राज्य का प्रतिनिधित्व किया था। इसे संक्षेप में 'सार न्यूज' का नाम दिया गया था। इस न्यूज

एजेंसी के लिये मैं नियमित रूप से छोटानागपुर क्षेत्र की प्रमुख ईसाई संगठनों से संबंधित समाचार भेजा करता रहा।

एक बात यहाँ बता देना प्रासांगिक रहेगा कि रांची में रहते हुए 'आकाशवाणी' रांची केन्द्र के साहित्यिक कार्यक्रमों में मुझे अक्सर भाग लेने का अवसर मिलता रहा। जमशेदपुर आने पर यहाँ से प्रकाशित हिन्दी दैनिक 'उदित वाणी' में भी कुछ समय के लिए सह संपादक के रूप में काम करने का अवसर मिला। लेकिन प्रधान संपादक को मेरी कार्यशैली पसन्द नहीं आयी, तो उसे छोड़ देना पड़ा।

जमशेदपुर में रहने के दौरान ही राजभाषा विभाग, बिहार सरकार, पटना द्वारा आयोजित कार्यक्रम में मेरे हिन्दी कथा संग्रह 'जंगल की ललकार' को जन जातीय ग्रंथ प्रकाशन अनुदान योजना के तहत अगस्त 1988 ई में सम्मानित और पुरस्कृत किया गया। इसी वर्ष भारत सरकार के सूचना और प्रसारण मंत्रालय द्वारा 'दूरदर्शन' के लिए समाचार संवाददाताओं के लिये आयोजित लिखित परीक्षा और साक्षात्कार के बाद मेरा चयन दूरदर्शन संवाददाता के रूप में हो गया। कोलकाता में लिखित परीक्षा के उपरान्त नयी दिल्ली के मंडी हाउस स्थित दूरदर्शन महानिदेशालय में हमारा साक्षात्कार लिया गया। सफलता के बाद मुझे कोलकाता स्थित दूरदर्शन केन्द्र में ज्वाइन करना था।

यह तत्कालीन प्रधानमंत्री स्व. राजीव गांधी के दिशा निर्देशों के आधार पर किया गया था। ज्वाइनिंग के समय हमारे लिए कोई अधिकारी हस्ताक्षर करने के लिए तैयार नहीं हो रहा था। मैं तो बिलकुल ही अलग आदिवासी परिवेश से आया था। मेरा कोई जान पहचान का नहीं था। बंगला भाषा मुझे नहीं आती थी। सभी वहाँ बंगला बोल रहे थे। बहुत अनुनय विनय के बाद प्रशासनिक विभाग की एक महिला पदाधिकारी ने सक्षम अधिकारियों को हमारी ज्वाइनिंग रिपोर्ट पर हस्ताक्षर करने के लिए तैयार किया। तब जाकर हम दूरदर्शन ज्वाइन कर पाये। यहाँ से प्रिंट मीडिया से अलग इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में हमने पदार्पण किया। ज्वाइनिंग के तुरंत बाद

हम चयनित प्रार्थियों को पुणे स्थित फिल्म एण्ड टेलीविजन इंस्टीट्यूट ऑफ इंडिया में एक सौ दिनों के प्रशिक्षण के लिए भेजा गया। पुणे में हमें बेसिक टेलीविजन प्रोडक्शन संबंधी जानकारियां जैसे टी.वी. कैमरा संचालन, ऑडियो-वीडियो की एडिटिंग, न्यूज रिपोर्टिंग, डॉक्यूमेन्टरी प्रोडक्शन, इंटरव्यू, स्टूडियो में समाचार प्रोडक्शन की बारीकियां आदि।

पुणे का प्रशिक्षण समाप्त होने के बाद नयी दिल्ली के खेलगांव स्थित केन्द्रीय कार्यक्रम निर्माण केन्द्र में जिसे सेन्ट्रल प्रोग्राम प्रोडक्शन सेन्टर यानी 'सी पी सी' संक्षेप में कहा जाता है, एडवान्स टेलीविजन ट्रेनिंग के लिए भेजा गया। यह ढाई महीने के लिए था। फरवरी मार्च और एप्रैल 1989 ई. में। हमें विदेशी विशेषज्ञों द्वारा यहाँ प्रशिक्षण दिया गया। प्रशिक्षण पूरा करने के बाद हम अपने केन्द्रों में भेज दिये गये। साथ ही हमारी फ्रस्ट पोस्टिंग भी हुई और मुझे दूरदर्शन केन्द्र, रांची भेज दिया गया। रांची केन्द्र बहुत ही छोटा था। यहाँ बनाये जाने वाले कार्यक्रमों को प्रसारण करने के लिए नयी दिल्ली भेजा जाता था। वहाँ से बीस मिनट के विभिन्न कार्यक्रम प्रसारित किये जाते थे। उस समय पूरे बिहार के प्रमुख समाचार कवरेज के लिए मुझे कैमरा टीम के साथ पूरे बिहार में भ्रमण करना पड़ता था। पटना में उन दिनों दूरदर्शन का कोई केन्द्र नहीं था। हम अपने समाचार कवरेज भारतीय डाक एवं तार विभाग के माइक्रोवेव के माध्यम से नयी दिल्ली भेजा करते थे। घंटों लिंक की प्रतीक्षा के बाद कोई समाचार वीडियो हम भेज पाते थे। फिर समाचार की स्क्रिप्ट हाथ से लिख फैक्स से भेजना होता था, विजुअल विवरण के साथ। कई बार प्रमुख समाचारों के वीडियो क्लिप एडिटिंग के बाद उसके कैसेट एयरलाइन्स के माध्यम से उसी दिन भेजने का प्रयास किया जाता। यह सारा काम मुझे स्वयं करना होता था। उन दिनों दूरदर्शन एकमात्र इलेक्ट्रॉनिक समाचार माध्यम था। अन्य निजी चैनल 1991 के बाद आने लगे थे। जब मैं कोलकाता से रांची केन्द्र आया, तो मैं अकेला इलेक्ट्रॉनिक मीडिया का रिपोर्टर हुआ करता था। एक आदिवासी को दूरदर्शन संवाददाता के रूप में देखकर यहाँ के स्थानीय गैर आदिवासी पत्रकारों की भौहें टेढ़ी हो जाती थीं। मैंने यह स्पष्ट अनुभव किया। कुछ पत्रकारों ने मुझसे पूछा भी कि मैं इस स्थान पर कैसे पहुँच गया! बहुत

अनमना सा लगता था। हालांकि इसके पहले मैं रांची में अपने 'जग ज्योति' के प्रकाशन संपादन के दौरान रोम के पोप जॉन पॉल द्वितीय के रांची आगमन के दौरान 1984 में एक फ्रेंच टेलीविजन 'चैनल 7' के लिए टीम के दुभाषिये रूप में काम कर चुका था। लगभग एक सप्ताह तक। साथ ही, रायटर के नयी दिल्ली स्थित रिपोर्टर के साथ पलामु के बंधुआ मजदूरों पर रिपोर्टिंग में उसके साथ फोटोग्राफी कर दिया था। रांची में रहते हुए मुझे अनेक विदेशी पत्रकारों के साथ काम करने का अनुभव प्राप्त हुआ था। लेकिन दूरदर्शन समाचार संवाददाता का काम करते हुए यहाँ के अधिकाँश पत्रकारों का व्यवहार मेरे लिये सहयोगपूर्ण नहीं रहा।

इसी बीच लोकसभा चुनाव में कांग्रेस की हार हो गयी और केन्द्र में जनता सरकार आ गयी। मंत्रिमण्डल में रांची से निर्वाचित सांसद सुबोध कांत सहाय को भी सम्मिलित किया गया। वे गृह राज्यमंत्री के साथ-साथ सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय भी संभालने लगे। जब भी वे रांची आते उनकी कवरेज में जाना लाजिमी था। रांची में फिल्म प्रभाग के क्षेत्रीय कार्यालय का उद्घाटन वे करने वाले थे। यह कार्यक्रम हीनू में आयोजित किया गया था। जब हमारी कैमरा टीम समाचार कवरेज के लिए निकलने की तैयारी कर रही थी, तो कैमरामैन ने कैमरा की जांच के बाद कहा कि कैमरा खराब है। मैंने इसकी सूचना तत्काल केन्द्र अभियन्ता को दी, ताकि अन्य कैमरा की व्यवस्था हो सके। लेकिन अन्य कैमरा एक दूसरे कार्यक्रम की शूटिंग में व्यस्त था। उसके प्रोड्यूसर ने कैमरा देने से इनकार कर दिया क्योंकि उसके कलाकार बाहर से आये हुए थे। परिणाम यह हुआ कि कैमरा हमें देर से मिला, तब तक मंत्री महोदय के उस कार्यक्रम की कवरेज नहीं हो सकी। हम उनके अगले कार्यक्रम स्थल पर उनका इंतजार करने लगे। सूचना एवं प्रसारण मंत्री के कार्यक्रम का दूरदर्शन कैमरा टीम द्वारा कवरेज नहीं होना, उनका अपमान करने जैसा था। मंत्री के सचिव ने मिलते ही, हमें अपना स्पष्टीकरण का मौका दिये बगैर कह दिया- 'पैक अप योर लगेज, यू आर ट्रांसफर्ड!' मैं क्या करता ऐसी परिस्थिति में, चुप रह गया। अगले एक सप्ताह तक स्थानीय समाचार पत्रों में मुझसे कारण पूछे बगैर मेरे खिलाफ खबरें छपती रहीं। परिणाम स्पष्ट था। दिल्ली से एक अधिकारी आये और मंत्री के कार्यक्रम

का समाचार कवरेज न होने के लिए हमसे स्पष्टीकरण लिखित रूप से मांगा गया। मैंने अपना लिखित जवाब उन्हें दे दिया। लेकिन अगले ही दिन मेरे साथ रांची के तीन अन्य अधिकारियों का तबादला अन्यत्र करने के आदेश रजिस्टर्ड डाक से आ गये। केन्द्र अभियंता का धनबाद, कैमरा मेन्टेनेन्स अभियंता का डालटेनगंज, कैमरामैन का दिल्ली और मेरा जयपुर तबादला कर दिया गया। मेरा ट्रांसफर विद् पोस्ट जयपुर दूरदर्शन केन्द्र कर दिया गया।

रांची से जयपुर बहुत दूर है। जमशेदपुर में मेरी पत्नी दो बच्चों के साथ अकेली थी। बेटा छोटा था, वह नहीं चाह रहा था कि मैं इतनी दूर जाऊँ। किसी तरह से मनाया और मन मार कर सामान उठाया और जयपुर चला गया। यह नयी दिल्ली, मुंबई, हैदराबाद, बंगलोर, चेन्नई, कोलकाता केन्द्रों की तरह बड़ा और परिष्कृत केन्द्र था। यहाँ से स्थानीय समाचार नियमित रूप से प्रतिदिन प्रसारित होते थे। इस कारण अच्छा लगा मुझे। लेकिन यहाँ भी मैं उपेक्षित रहा। जितने समय तक मैं जयपुर केन्द्र में काम किया मुझे कोई कमरा या बैठने की जगह उपलब्ध नहीं करायी गयी। दलील दी गयी कि मुझे वापस रांची जाना है। लेकिन मुझे जयपुर में फरवरी 1991 से लेकर सितंबर 1997 तक काम करते रहना पड़ा।

जयपुर में भी अधिकांश दूरस्थ स्थानों के समाचार कवरेज के लिए मुझे ही भेजा जाता था। उदयपुर जयपुर से ग्यारह घंटे, जोधपुर नौ घंटे, बीकानेर भी काफी दूर था। कई बार मुझे भोजन करने का समय भी नहीं मिलता था। तीन दिनों तक दूर जाकर रिपोर्टिंग करने के बाद समाचार एडीटिंग कर दिल्ली भेजने का काम खत्म कर अपने गंदे कपड़ों की धुलाई भी नहीं कर पाया कि फिर टूर पर निकलो। खैर, मैंने कभी भी ना नहीं किया और पूरे राजस्थान का दौरा करते हुए दूरदर्शन समाचार के लिए काम करता रहा।

यही कारण रहा कि मुझे 1993 जुलाई महीने में तत्कालीन राष्ट्रपति डॉ. शंकर दयाल शर्मा की यूरोप यात्रा का दूरदर्शन समाचार कवरेज का अवसर मिला। तेरह दिनों की यूरोप यात्रा के दौरान मुझे तेहरान, यूक्रेन की राजधानी कीव और ओडेसा शहर, तुर्की की राजधानी अंकारा

और महानगर इस्ताम्बुल, हंगरी, ग्रेट ब्रिटेन, यूनान की राजधानी एथेंस और बहरीन से समाचार कवरेज करने का अवसर मिला। अलग-अलग देशों में गैर अंग्रेजी स्थानों से समाचार कवरेज करने और वहाँ के स्टुडियो में वीडियो एडीटिंग का अनुभव ही दूसरा रहा। तुर्की में मेरा सूटकेस यात्रा के दौरान गायब हो गया। यह अंकारा से इस्ताम्बुल जाने के क्रम में हुआ था। मेरे पास बस पहना हुआ सूट और कैरी बैग में कुछ कपड़े रह गये थे। मैंने यात्रा में शामिल विदेश सचिव को लिखित शिकायत की। उन्होंने लंदन पहुँचने पर वहाँ के इंडियन हाई कमीशन के अधिकारियों को मुझे एक सूटकेस और दो जोड़े पैंट-शर्ट उपलब्ध कराने का निर्देश दिया। लेकिन बहुत मुश्किल से मुझे ये सामान प्राप्त हुए। कपड़ों की किल्लत मुझे हंगरी में बहुत हुई। खैरियत थी कि तापमान सामान्य था। खैर, यह सब होते हुए भी मैंने तेरह दिनों में दूरदर्शन के लिए 18 न्यूज फीड हिन्दी वॉयस ओवर के साथ भेजे। बाद में नयी दिल्ली आकर पूरी यात्रा की एक वीडियो रिपोर्ट तैयार करनी थी। लेकिन यहाँ दिल्ली के वीडियो एडीटर मुझे साथ नहीं दे रहे थे। मुझपर दबाव था कि जल्द से जल्द टी.वी. रिपोर्ट तैयार कर प्रसारण के लिए उपलब्ध कर दूँ। मैं बहुत परेशान रहा। फिर एक मित्र प्रोड्यूसर ने सलाह दी कि लम्बी टी.वी. रिपोर्ट को छोटा कर पेश कर दूँ। उन्होंने एक असिस्टेंट एडीटर से मुझे मिला दिया, जिसकी मदद से मैं कार्यक्रम पूरा कर सका। इसमें भी एक वीडियो एडीटर एक दिन काम कर अगले दिन बंकर गया, मैं फिर परेशान। फिर एक दूसरा वीडियो एडीटर ने मेरे काम को जैसे-तैसे पूरा किया। मैं उस एडीटेड कार्यक्रम से बिल्कुल ही संतुष्ट नहीं था। लेकिन उन परिस्थितियों में जब सहयोगी सहयोग न दें तो क्या कर सकता था। उन दिनों प्रणय राँय का कार्यक्रम 'वल्ड दिस वीक' दूरदर्शन के प्राइम टाइम पर दस बजे रात प्रसारित होता था। बुधवार की रात।

उसके कार्यक्रम को आगे बढ़ाकर मेरे टी.वी. रिपोर्ट का प्रसारण किया गया। तो आप बहुत मुश्किल में पड़ जाते हैं जब आपको अपरिचित जगहों पर काम करते हुए। खैर प्रसारण हो गया राष्ट्रपति की यूरोप यात्रा पर आधारित मेरा टी.वी. रिपोर्ट। हालाँकि राष्ट्रपति का पी.

आर. ओ. कार्यालय मेरे कार्यक्रम से संतुष्ट नहीं हुआ। मैं स्वयं संतुष्ट नहीं था। मैं कम से कम आधा घंटा का टी.वी. रिपोर्ट बनाना चाहता था।

दूरदर्शन की टेलीविजन पत्रकारिता मेरी जारी थी। अक्टूबर 1997 ई. में मेरा ट्रांसफर जयपुर से वापस रांची कर दिया गया। इस बार ढेर सारे अनुभवों के साथ रांची आया था। पत्रकार जगत में मुझे लोग पहचानने लगे थे। रांची आने पर सहूलियतें मिलीं, तो काम करने का जोश भी मिला। दूरदर्शन के महानिदेशक के रूप में श्री स्वागत घोष ने नयी दिल्ली मुख्यालय में पदभार संभाला, तो नये प्रस्ताव लेकर भी आये। उन्होंने सुबह सात बजे के समाचार बुलेटिन के साथ स्थानीय अखबारों की सुर्खियों पर आधारित एक कार्यक्रम आरम्भ किया। इसमें विभिन्न दूरदर्शन केन्द्रों को सम्मिलित किया गया, जिसमें रांची केन्द्र भी था। इसके तहत हमें बहुत सबेरे उठकर स्थानीय समाचार पत्र एकत्रित कर प्रमुख समाचारों पर 90 सेकेण्ड में एक लाइव फीड नयी दिल्ली को देनी पड़ती थी। रांची में यह कार्यक्रम मुझे बनाना और फीड करना था। ऑफिस की गाड़ी लगभग चार बजे मुझे मेरे आवास से पिकअप करती थी। चूंकि कार्यक्रम में लाइव टी.वी. स्क्रीन पर आना होता था, तो नहा धोकर वेल ड्रेस होकर स्टूडियो आना पड़ता था। जनवरी 1998 में यह कार्यक्रम आया। सबेरे-सबेरे नहाकर तैयार होने के लिए मुझे पानी गर्म करने के बाद नहाना होता था। फिर रास्ते में सहायक अभियंता को लेते हुए शहर के मुख्य चौक परमवीर अल्बर्ट एक्का चौक से स्थानीय अखबार खरीदकर दूरदर्शन केन्द्र पहुंचकर समाचारों की सुर्खियों का चयन कर कैमरामैन से उनके स्क्रीन शॉट्स लेकर स्क्रिप्ट तैयार कर रिकार्डिंग करते फिर लाइव प्रसारण के लिये कैमरा के सामने मेकअप कर तैयार होते। इतनी सुबह कोई मेकअप आर्टिस्ट केन्द्र में मौजूद नहीं होता था। अतः स्वयं ही आइना और टल्कम पाउडर लेकर अपने चेहरे पर लगाते कि चेहरे पर एक्सट्रा साइनिंग न हो। आरम्भ में विजुअल और कमेंट्री पढ़ कर रिकार्डिंग कर उसकी एडीटिंग कर नयी दिल्ली के समाचार कक्ष को अग्रिम सेटलाइट लिंक के माध्यम से भेज देते थे। यह कार्यक्रम बहुत ही लोकप्रिय

हो गया। क्योंकि शहर और राज्य के प्रमुख समाचार सुबह-सुबह दर्शकों को टेलीविजन पर देखने-सुनने को मिल जाता था।

इस कार्यक्रम को लेकर भी दूरदर्शन के कुछ स्टाफ के दिलों में जलन पैदा हो गयी। उनकी शिकायत थी कि मैंने स्वयं यह कार्यक्रम पेश करने की सिफारिश की थी। इस कार्यक्रम के लिए स्टूडियो को सुबह छः बजे तक तैयार करना होता था। इतनी सुबह अभियंत्रण विभाग के तकनीशियन आने के लिए तैयार नहीं होते थे। अतः उन्होंने मंत्रालय से मेरी शिकायत कर दी। हालांकि यह बेबुनियाद निकली।

इसी दौरान वर्ष 2000 ई. में झारखण्ड अलग राज्य के रूप में बिहार से अलग कर बनाया गया। तत्कालीन सूचना एवं प्रसारण मंत्री श्रीमती सुषमा स्वराज ने रांची में दूरदर्शन के नये स्टूडियो का उद्घाटन करने के साथ रांची से क्षेत्रीय समाचार कक्ष आरम्भ करने की अनुमति प्रदान की। फिर तो मुझे समाचार कवरेज करने में आनन्द का अनुभव होने लगा। आगे चलकर कुछ समय के लिए शिबु सोरेन झारखण्ड के मुख्य मंत्री बने। दूरदर्शन केन्द्र के कुछ कर्मचारियों ने मंत्रालय में यह शिकायत कर दी कि मैं झारखण्ड मुक्ति मोर्चा के कार्यक्रमों का अधिक कवरेज करता हूँ। उस समय केन्द्र में भाजपा की सरकार थी। मुझसे स्पष्टीकरण मांगा गया। चूंकि मैं आरम्भ से ही सब कुछ का रिकार्ड रखता आया था, तो मिनट दर मिनट की रिपोर्ट मेरे पास थी। सभी जानते थे कि पत्रकारिता में मैंने कोई 'बायस्ड' रिपोर्टिंग नहीं की थी और प्राथमिकता के आधार पर सभी तरह के कार्यक्रमों की कवरेज किया करता था।

इस तरह दूरदर्शन समाचार संवाददाता के रूप में मेरा कार्यकाल सरल और सीधा नहीं रहा। साठ वर्ष की आयु सीमा पूरा करने के उपरान्त वर्ष 2007 के मई महीने में मैं सेवानिवृत्त हुआ।

यह तो रहा मेरे प्रिंट और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में काम करने का अपना अनुभव।

प्रश्न: आपके अनुसार आदिवासी साहित्य क्या है आप किसे आदिवासी साहित्य मानेंगे?

उत्तर: यह प्रश्न सबसे पहले नयी दिल्ली में एक पत्रकार ने पूछा था। मैं जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में आयोजित अखिल भारतीय आदिवासी कथाकारों के सम्मेलन में आमंत्रित था। इसका आयोजन रमणिका गुप्ता फाउण्डेशन, नयी दिल्ली और साहित्य अकादमी द्वारा संयुक्त रूप से किया गया था। मेरा विचार था -आदिवासियों द्वारा रचित साहित्य को ही आदिवासी साहित्य माना जाना चाहिए। मेरा तर्क था कि आदिवासी समाज के बारे में आदिवासी लेखकों की रचनाओं में उनका स्वयं का अनुभव होता है क्योंकि वे उस आदिवासी समाज से आते हैं। इसलिए आदिवासी समाज के बारे में आदिवासी रचनाकारों द्वारा रचित साहित्य को ही आदिवासी साहित्य माना जाना चाहिए।

प्रश्न: आदिवासी और गैर आदिवासी लेखकों की रचनाओं में क्या कोई भिन्नता है?

उत्तर: आदिवासी लेखक अपने जीवन पर आधारित अपने आदिवासी समाज के बारे में लिखते हैं जबकि गैर आदिवासी लेखक देख और सुन-पढ़ कर आदिवासियों के बारे में लिखते हैं। एक आदिवासी अपने जीवन में जिन परिस्थितियों से होकर गुजरता है, वह अनुभव एक गैर आदिवासी कभी भी सही ढंग से प्रस्तुत नहीं कर सकता। उसके साथ जिस तरह के भेदभाव किये जाते हैं, उसे एक आदिवासी लेखक ही सही रूप में प्रस्तुत कर सकता है।

आदिवासी समुदाय में अनेक भिन्नताएं होती हैं उनकी बोली भाषा, रीति रिवाज और रहन सहन व संस्कृति में। इनकी विवेचना आदिवासी लेखक बेहतर ढंग से कर सकता है। महाश्वेता देवी ने अपने उपन्यास 'जंगल के दावेदार' में जिस आदिवासी पात्र का वर्णन किया है वह एक मुण्डा आदिवासी है। लेकिन जिस पलामु क्षेत्र के बारे में वर्णन किया गया है, उस क्षेत्र में मुण्डा आदिवासियों का निवास नहीं है, वह उरांव आदिवासियों का क्षेत्र माना जाता है। यह विसंगति उनके उपन्यास में है। दूसरी बात मुण्डा आदिवासी 'सिंगबोंगा' को अपना इष्ट देवता मानते हैं, जबकि उरांव आदिवासी उसे 'धर्मेश' संबोधित करते हैं। यही अलग करता है एक आदिवासी लेखक को और एक गैर आदिवासी लेखक को। यह मात्र एक उदाहरण है। अनेक

उदाहरण इस तरह के मिलेंगे, जहाँ आदिवासियों के बारे में गैर आदिवासी लेखकों द्वारा अपनी रचनाओं में पेश किये गये हैं।

प्रश्न: ग्रामीण संस्कृति पर आधुनिक संस्कृति का प्रभाव इतना बढ़ता जा रहा है कि लोगों के विचार भी उसी प्रकार निर्मित हो रहे हैं। इस संबंध में आपके क्या विचार हैं?

उत्तर: भूमंडलीकरण के दौर में सभी लोगों पर आधुनिकीकरण का प्रभाव हो रहा है। ग्रामीण संस्कृति इसका अपवाद नहीं है। शिक्षा के प्रसार के साथ अधिक से अधिक ग्रामीण शिक्षित होकर महानगरों की ओर रोजगार के लिये जा रहे हैं। वहाँ वे शहरों के तौर-तरीकों को अपना रहे हैं। अपने बच्चों के भविष्य निर्माण के लिए अंग्रेजी माध्यम के स्कूलों में उन्हें शिक्षा दिला रहे हैं, तो निश्चय ही उनकी संस्कृति पर बदलाव आयेंगे। अतः मेरा इस संबंध में यही कहना है कि यह हरेक समाज के साथ हो रहा है। हर जगह समय के साथ बदलाव आ रहा है। शहरों में रहने वाले आदिवासी अपने ग्रामीण परिवेश से बिल्कुल कट से जा रहे हैं। वे शहरों और ग्रामीण संस्कृति के साथ समन्वय स्थापित नहीं कर पा रहे हैं।

प्रश्न: “देश भ्रमण का फायदा शायद यही है। आदमी ‘बोल्ड’ हो जाता है।” यहाँ ‘बोल्ड’ से आपका क्या तात्पर्य है?

उत्तर: जब आप विभिन्न जगहों पर भ्रमण के लिए जाते हैं तो वहाँ से कई बातें सीख कर लौटते हैं। कुछ को आप अपने जीवन में अंगीकार भी कर लेते हैं। भारत में बंगाली लोग सबसे अधिक देश भ्रमण करते हैं। मूड़ी खाकर रह लेंगे लेकिन पैसे बचाकर साल में एक बार अपने शहर से दूसरी जगह भ्रमण अवश्य करेंगे। इसलिए हमने देखा है कि बंगाली लोग किसी भी विषय पर अपने विचार व्यक्त करने से हिचकिचाते नहीं। उसी प्रकार अन्य समुदायों के लोगों के बीच जाकर समय व्यतीत करने से अपने अन्दर का एक खालीपन वाला बोध दूर होने लगता है। आदिवासी समाज भी इससे भिन्न नहीं है। अब मेरे उपन्यास के अनेक पात्र दिल्ली महानगर में दिल्ली के लोगों के बीच रहकर निश्चय ही ‘बोल्ड’ बनते नजर आते हैं। जहाँ पहली

बार गांवों से महानगर पहुँचने पर डरे-डरे से लगते हैं, कुछ वर्षों के उपरान्त अकेले भी कई जगहों पर चले जाते हैं। अपनी बात बोल सकते हैं। मेरा 'बोल्ड' कहने का आशय यही है कि वे महानगरों में कुछ समय व्यतीत करने के बाद काफी निर्भीक हो जाते हैं। उनके अन्दर का 'डर' कम होता चला जाता है।

प्रश्न: स्त्री की मासूमियत, सरलता को उसकी कमजोरी समझकर उसे दबाने का हर संभव प्रयास किया जाता है। इस पर आपके क्या विचार हैं?

उत्तर: यह प्रायः हर समाज में देखा जाता है। उसकी शारीरिक क्षमता के साथ घर की दहलीज से बाहर अकेले कदम रखते ही वह कमजोर दिखाई देने लगती है। इसे ही उसकी कमजोरी समझ कर उसे दबाने का प्रयास किया जाता है। आदिवासी समाज में भी यह देखा जाता रहा है कि कोई अकेली महिला के पक्ष में कम ही लोग खड़े होते हैं। जब वह इस तरह अलग थलग पड़ जाती है तो उसे समाज दबाने का प्रयास करने लगता है।

प्रश्न: सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक स्तर पर स्त्रियों का हर प्रकार से शोषण किया जाता है। तरह-तरह के दबाव डालकर समझौता करने पर विवश कर दिया जाता है। स्त्रियों को ही समझौता करना क्यों पड़ता है?

उत्तर: यह भारतीय समाज में स्पष्ट दिखाई देता है। जैसा कि मैंने ऊपर कहा कि महिलाओं को दोगुना दर्जे में रखा जाता है। अनेक समुदायों में तो स्त्री को किसी तरह का अधिकार नहीं दिया जाता है। कम से कम आदिवासी समाज में महिलाओं को पुरुषों के समान अधिकार दिये गये हैं। यहाँ तक कि वे समाज में निर्णय देने के लिये भी स्वतंत्र हैं। हालांकि अनेक आदिवासी समाज पुरुष प्रधान ही है, उन्हें जमीन संबंधी अधिकार पाने के अधिकार से वंचित रखा गया है। इसके पीछे भी यह तर्क दिया जाता रहा है कि एक स्त्री विवाह के बाद पिता का घर छोड़कर पति के घर चली जाती है और अपने पति के अधिकारों की भागीदार बनती है। इसलिए उसे पिता की सम्पत्ति का अधिकार नहीं दिया जाता है। पूर्वोत्तर राज्यों के अनेक आदिवासी समाज

में उल्टा होता है। वहाँ स्त्री की प्रधानता होती है। आर्थिक परिवेश में स्त्री को पुरुष से कमजोर माना गया है। इस कारण श्रम के मामले में महिलाओं को पुरुषों से कम मेहनताना मिलता है। यह भेद दैनिक श्रमिकों में स्पष्ट दिखाई देता है। राजनीतिक स्तर पर तो यह भिन्नता और भी अधिक है। आनुपातिक दृष्टिकोण से सौ में नब्बे परिस्थितियों में स्त्रियों को कम स्थान राजनीतिक मंच पर मिलता है। कार्यस्थलों पर महिलाओं का शारीरिक शोषण किये जाने की अनेक खबरें सामने आती रहती हैं। यह भारतीय समाज के साथ पूरे विश्व की समस्या बनी हुई है। इसके परिवर्तन होने में अभी और समय लगेगा।

प्रश्न: आदिवासी समुदाय में जो सांस्कृतिक परिवर्तन परिलक्षित हो रहा है उसका मुख्य कारण क्या है?

उत्तर: इसका प्रमुख कारण शिक्षा का प्रसार-प्रसार है। शिक्षा प्राप्त करने के बाद आदिवासी समाज के लोग महानगरों में नौकरी के लिये चले जाते हैं। वे अपने ग्रामीण परिवेश से कट से जाते हैं। इससे वे गांव के अपने रीति रिवाजों से वंचित होते चले जाते हैं। पर्व त्योहारों में वे सम्मिलित नहीं हो पाते और धीरे-धीरे वे अपनी संस्कृति से दूर होते चले जा रहे हैं। सबसे अधिक बच्चों पर इसका प्रभाव पड़ रहा है। अपने ग्रामीण परिवेश से लगातार अलग रहने के कारण वह अपनी संस्कृति को समझ नहीं पा रहे हैं और इस कारण अपने गांव आने पर समाज से घुलमिल नहीं पाते।

प्रश्न: आज विकास की अवधारणा बदल रही है।। प्रचलित मान्यता से भिन्न विकास की नई एवं छद्म भरी अवधारणा देखने को मिल रही है। आदिवासी समाज के संदर्भ में वास्तविक विकास क्या है?

उत्तर: आज विकास के नाम पर अमीर, अधिक अमीर और गरीब और अधिक निर्धन होता जा रहा है। एक सामान्य औसत भारतीय परिवार के लिए अच्छी सैलरी वाली नौकरी, सरकारी क्षेत्र की नौकरी हो तो और भी अच्छा, एक अच्छा भवन, कार, बच्चों की अंग्रेजी माध्यम के स्कूलों

में शिक्षा की व्यवस्था चाहिए। आदिवासी समाज में भी जिन लोगों को अच्छी शिक्षा प्राप्त करने के बाद सरकारी संस्था में नौकरी मिल गयी, तो वे अपने लिए अलग जमीन लेकर रहने के लिए एक बढ़िया सा तीन-चार कमरों का मकान बना लेंगे। मकान भी वे खुली जगह पर अधिक पसन्द करते हैं। इस मायने में आदिवासी समाज संकुचित सीमित फ्लैट में रहना पसन्द नहीं करता। वह खुले आंगन और बगीचे वाले परिसर में रहना बेहतर मानता है। कार तो सर्विस के दौरान खरीद लेते हैं, क्योंकि यह आवश्यक हो जाता है। लेकिन सम्पूर्ण आदिवासी समाज के विकास की बातें करें तो उसे स्वच्छ पेय जल, समुचित स्वास्थ्य सुविधाएं और शिक्षा के केन्द्रों की आवश्यकता है। एक सामान्य आदिवासी परिवार अपने खाने की व्यवस्था स्वयं कर लेता है, जिनके पास अपनी पुश्तैनी खेती करने योग्य जमीन है। भीख मांगने की प्रथा ग्रामीण आदिवासी समाज में नहीं रही है। लेकिन महँगाई के दौर में अब आदिवासी लोग भी भीख मांगते हुए दिखाई देने लगे हैं। पुरानी ग्रामीण व्यवस्था में गरीब आदिवासी परिवारों को गांव के सम्पन्न लोग खाने के लिए अनाज दे दिया करते थे। परंतु अब यह प्रथा समाप्त होती जा रही है। आदिवासी समाज थोड़े में ही संतुष्ट रहने वाला है। अधिक की वह कामना नहीं करता। कल की फिक्र आदिवासी समाज नहीं करता इसलिए उसके सामने विकास की कोई स्पष्ट तस्वीर नहीं होती।

प्रश्न: 'लौटते हुए' शीर्षक चुनने के पीछे क्या कारण है?

उत्तर: 'लौटते हुए' के प्रथम अध्याय में लेखक ट्रेन में यात्रा करता हुआ अपने गंतव्य की ओर लौट रहा होता है। दरअसल, जब महानगर में रहते हुए वह कुछ कर नहीं पाता है तब वापसी में वह गुजरे समय की घटनाओं पर विचार करता हुआ अपने गंतव्य की ओर लौटता है। इस लौटने के क्रम में ही वह पूरी कथा का वर्णन करता है। इसीलिए मैंने इस उपन्यास का शीर्षक 'लौटते हुए' रखा।

प्रश्न: किसी भी रचना के सृजन के पीछे कोई-न-कोई प्रेरणा कार्य करती है। 'लौटते हुए' उपन्यास रचने की प्रेरणा आपको कहाँ से मिली?

उत्तर: जैसा कि मैंने पहले बताया कि नयी दिल्ली में पत्रकारिता प्रशिक्षण के दौरान 1972 में जनवरी से अक्टूबर के बीच दो घटनाओं ने मुझे सबसे अधिक प्रभावित किया। वर्ष 1971 ई. का भारत-पाकिस्तान युद्ध जिसका परिणाम था बांग्लादेश का निर्माण। युद्ध विभीषिका और महानगरों में हमारे छोटानागपुर क्षेत्रों से घरेलु कामगारों के रूप में दिल्ली महानगर में काम करती हुई आदिवासी युवतियों का जीवन। करोल बाग क्षेत्र में रहते हुए रविवार के दिन चर्च की प्रार्थना में शामिल होने के लिए हम पूसा रोड स्थित एक कैथलिक प्रार्थनालय में जाते थे। वहाँ उस एरिया के मकानों में काम करने वाली आदिवासी युवतियों से मेरा परिचय हुआ। यों छोटानागपुर रांची से आनेवाले आदिवासी भारत के किसी कोने में हों, नया चेहरा देखकर उनसे मिलने के लिए वे सामने आ जाते हैं। आपसी परिचय होता है। कहाँ से आये हैं? क्या काम करते हैं? वगैरह। इस प्रकार पूसा रोड प्रार्थनालय के अतिरिक्त गोल डाकखाना स्थित कथीड्रल, डिफेंस कॉलोनी स्थित चर्च और आर के पुरम स्थित चर्च परिसर के बाहर रविवार के दिन देखने को मिल जाता है। इसी क्रम में विभिन्न स्थानों में मुझे छोटानागपुर से आये लोगों के साथ आदिवासी युवतियों से मिलने का अवसर मिला। इन आदिवासी घरेलु कामगारों को यहाँ 'आया' के नाम से जाना जाता है। धीरे-धीरे उनके जीवन की परिस्थितियों के बारे में जानने लगा। उनके यहाँ काम करने के वातावरण के बारे में पता चला उनके साथ हुई बातचीत में। तब इनके बारे में कुछ लिखने का सोचने लगा। हालाँकि दिल्ली में मैं पत्रकारिता का प्रशिक्षण लेने आया था, इसलिए उस पर मेरा अधिक ध्यान रहा। जब मैं पटना आकर 'कृतसंकल्प' का संपादन कार्य करने लगा और कुछ स्थिरता आयी, तब मैंने बीती घटनाओं को आधार मानकर लिखना आरम्भ किया। पहले बांग्लादेश की पृष्ठभूमि पर एक आदिवासी नर्स के जीवन को आधार बनाकर मैंने अपना उपन्यास 'शाम की सुबह' लिखा। उसके साथ ही महानगरों में काम करने वाली आदिवासी घरेलु कामगारों के जीवन को आधार बनाकर दूसरा उपन्यास लिखने के

लिए खाका तैयार किया। लेकिन यह काम बस खाका बनाने और पहला अध्याय के कुछ पन्ने लिखने तक सीमित रह गया।

बाद में रांची आने के बाद दूरदर्शन समाचार संवाददाता के रूप में काम करते हुए इसे 1997 ई. से फिर से लिखना आरम्भ किया। जिसे पूरा कर वर्ष 2005 ई. में प्रकाशित कर सका।

प्रश्न: आपकी दृष्टि में महिला सशक्तिकरण से क्या अभिप्राय है?

उत्तर: महिला सशक्तिकरण का मतलब उसे सही रूप में आर्थिक तौर पर सबल बनाना है। समाज में उसे पुरुषों के समानान्तर अधिकार प्राप्त करना है। इस दिशा में जो भी कदम उठाये जा रहे हैं मैं उनका समर्थन करता हूँ। दूरदर्शन समाचार संवाददाता के रूप में काम करते हुए महिला सशक्तिकरण से संबंधित कार्यक्रमों का मैंने प्रमुखता से कवरेज किया। उदाहरण स्वरूप निजी क्षेत्र के इस्पात उद्योग टाटा स्टील द्वारा कुछ महिलाओं को, जो पहले सामान्य सफाई कर्मचारी के रूप में कार्यरत थीं, उन्हें अनेक भारी मशीनों को चलाने का प्रशिक्षण देकर उन कामों पर नियमित काम पर लगाया गया। इन्हें 'तेजस्विनी' नाम दिया गया। उन्होंने आगे चलकर हेवी मशीनों के संचालन में काफी नाम कमाया। दूरदर्शन समाचार चैनल में मेरे कवरेज को दो-तीन बार प्रसारित किया गया। उसी तरह रांची धुर्वा के निकटवर्ती गांव की महिलाओं द्वारा बचत खाता आरम्भ किया गया। गांव की गरीब तबके की महिलाएं साप्ताहिक तौर पर थोड़े पैसे बचाकर यहाँ के अपने बचत खाते में जमा करती थीं। जरूरत के अनुसार दो प्रतिशत के ब्याज पर सामूहिक जमा राशि से वे ऋण ले सकती थीं। और इस तरह अनेक महिलाओं ने अपने परिवार के बंधक लगे जमीन को वापस पाने में सफलता भी पायी। इसके साथ ही अनेक स्वयं समूह सहायता समितियों में महिलाओं की भागीदारी ने उन्हें आर्थिक रूप से आत्म निर्भर बनाने में मदद की। इस तरह वे समाज की सशक्त महिलाएं बनीं।

प्रश्न: आधुनिक युवा लेखकों को आप क्या संदेश देना चाहेंगे?

उत्तर: आधुनिक युवा लेखकों के समक्ष पूरा आकाश खुला हुआ है। तकनीकी तौर पर भी वे हमारे युग के लेखकों से अधिक सक्षम हैं। हमें शिक्षा ग्रहण करने में ही काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। सीमित साधन थे। अवसर कम थे। आज लेखकों के समक्ष अनेक संभावनाएं हैं। उनके समक्ष वर्तमान राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में चुनौतियां बहुत हैं। भारतीय लोकतंत्र में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता मिली हुई है। लेकिन आज विपरीत परिस्थितियाँ पैदा की जा रही हैं। इस कारण जो कुछ हम बोल और लिख रहे हैं, उसे प्रेषित करने के पूर्व हमें पूरी सावधानी बरतनी होगी। यही काम आज के युवा लेखकों को करना होगा ताकि भारतीय संविधान की रक्षा की जा सके। लेखन के मामले में एक कहावत है 'लगातार पढ़ते रहें, अध्ययनशील बने रहें और लगातार लिखते रहें'। अंग्रेजी में इसे *प्लमंकएट्मंकएट्मंक...दक...तपजमएतपजमए तपजमष्* कहा जाता है।

प्रश्न: आपकी आगामी योजनाएँ क्या हैं?

उत्तर: मैंने कई योजनाएं अपने सामने बना रखी हैं। लेकिन पिछले तीन वर्षों से विभिन्न शारीरिक कष्टों के कारण किसी एक योजना को पूरा करने में स्वयं को समर्थ नहीं पा रहा हूँ। सबसे पहले तो नियमित कहानियों की रचना करता रहूँ। दूसरी ओर विगत कई वर्षों से आदिवासी समाज पर एक वृहत् उपन्यास लिखने के लिए विभिन्न स्थानों में जाकर वहाँ बसे झारखण्ड के आदिवासी समाज पर शोध कार्य कर रहा हूँ। ज्ञात है कि छोटानागपुर से अंग्रेजों के समय से ही असम, भूटान और बंगाल के चाय बागानों में काम करने के लिए आदिवासी मजदूरों को भेजा जाता रहा है। अधिकांश लौट आये लेकिन अभी भी लाखों आदिवासी मजदूर चाय बागानों में बंधुआ मजदूरों के रूप में कम मजदूरी पर काम करने के लिए विवश है। इनके जीवन का अध्ययन करने के लिए उस क्षेत्र का दो बार दौरा कर चुका हूँ। दूसरी ओर अण्डमान निकोबार द्वीप समूह में भी काम करने के लिए झारखण्ड क्षेत्र से हजारों आदिवासी कामगारों को अनुबंधों के आधार पर भेजा गया था। उनके जीवन के अध्ययन के लिये भी दो बार

अण्डमान निकोबार की यात्रा कर चुका हूँ। यह अध्ययन पूरा नहीं हो पाया है इसके लिए एक बार फिर से वहाँ जाना है लेकिन कोविड महामारी के कारण यह यात्रा अभी तक पूरी नहीं हो पायी है। तीसरी योजना के अंतर्गत मेरी हिन्दी कहानियों में से स्त्री प्रधान कृतियों का अपनी मातृभाषा मुण्डारी में अनुवाद प्रस्तुत करना है। इस पर काम चल रहा है लेकिन गति बहुत धीमी है, बढ़ती आयु में शारीरिक व्याधियों के कारण।

तो, बस यही सब कहना था।

मेरे उपन्यास 'लौटते हुए' को अपने शोध का विषय बनाने के लिए आपको धन्यवाद! आपके शोधकार्य की सफलता की कामनाएं करता हूँ!

-वाल्टर भेंगरा 'तरुण', इग्नेस सदन, म. संख्या-123ए, अमृतपुर, डाकजिला-खूँटी (झारखण्ड)
835210

सुप्रसिद्ध आदिवासी लेखिका एवं चिंतक वंदना टेटे से साक्षात्कार

प्रश्न: साहित्य लेखन के प्रति आपका रुझान कैसे बढ़ा?

उत्तर: मैं साहित्य की विद्यार्थी नहीं थी बस स्कूल में विषय के तौर पर पढ़ा था। लेकिन मैंने अपनी माँ को लिखते-पढ़ते हुए देखा था। उन्हें भी बहुत बाद में पढ़ना शुरू किया जब मैं इंटरमीडियट में थी। उससे पहले तो कभी घर कभी हॉस्टल में मेरा रहना हुआ रहता था। इंटरमीडियट से उनका सान्निध्य रहा। जब मैं मैट्रिक में थी तो उस समय मैं हॉस्टल में रहा करती थी। जब घर आती थी तो मौसियाँ, माँ की संगी-साथी अमूमन पूछती थीं कि तुम्हें क्या पढ़ना पसंद है। माँ भी कई बार लिखने के लिए प्रेरित करती थीं। ऐसे ही युवा समय में पढ़ने-लिखने के दौरान एक कविता लिखी। उस समय कंधार वाली घटना घटी थी जिसको आधार बनाकर जिंदगी से जोड़ते हुए लिखा। इंटरमीडियट में पढ़ते वक्त की गर्मी छुट्टी के दिनों किसी बात से मैं अपनी माँ से नाराज थी। उसी नाराजगी के समय में उन्होंने मुझे मैक्सिम गोर्की का 'मेरा बचपन' किताब गिफ्ट किया था। यह पहली किताब थी जो मुझे गिफ्ट में मिली थी। उस किताब को पढ़कर मुझे इतना मजा आया कि मेरी सारी नाराजगी दूर हो गई, गजब की शैली और वाक्य विन्यास है उसमें, बिल्कुल सहज और सरल। उस दरमियान सोवियत साहित्य (कहानियाँ, वैचारिकी आदि) खूब पढ़ा। मैक्सिम गोर्की की 'माँ', 'मेरा बचपन' किताबों ने धीरे-धीरे मेरा मन उधर मोड़ा और उसके बाद से मेरा लिखना-पढ़ना और समझना आरंभ हुआ। उन्हीं दिनों माँ के कहने पर खड़िया पुरखा गीतों को रेडियो स्टेशन में गाना शुरू किया। यह सामूहिक गायन था और इसके साथ ही मैंने रेडियो के लिए कविताएं और आलेख लिखना शुरू किया। वहाँ से साहित्य की शुरुआत हुई। लेकिन साहित्यिक कार्य के प्रति रुझान समाज सेवा और पत्रकारिता में हुआ तब तक मैं ग्रेजुएशन में आ चुकी थी। आदिवासी पत्रिका के साथ-साथ कला संगम, तलाश, झारखंड खबर,

समकालीन ताना बाना, पतंग आदि पत्रिकाओं में लिख रही थी। 2000 के बाद से गंभीर लेखन शुरू किया।

प्रश्न: वर्तमान में आदिवासी साहित्य का क्या स्वरूप है?

उत्तर: आदिवासी साहित्य उनकी वाचिकता में निहित रही है। लेकिन आदिवासियों के प्रति उपेक्षित और कमतर मानने के नजरिये ने उनके साहित्य को लंबे समय तक साहित्य ही नहीं माना गया। हालाँकि आदिवासी साहित्य विमर्श 1830-35 से शुरू हो चुका था तभी तो 1840 में किताब प्रकाशित हो जाती है। अपनी चीजों को बाजार में लाने या फिर बढ़-चढ़कर अपनी चीजों को प्रस्तुत करने का आदिवासियों का कभी स्वभाव नहीं रहा। इसीलिए लोगों ने बहुत ज्यादा ध्यान नहीं दिया। प्रकाशन और बिक्री बाजार से जुड़ा मुद्दा है। हमारे लोग इसके बारे में बहुत जानकारी नहीं रखते थे या दूर ही रहते थे। शुरुआती दौर के लेखकों ने काफी कुछ लिखा जो प्रकाशित नहीं हुई, बतौर पाण्डुलिपि ही रह गई। उनमें से लेखकों की पाण्डुलिपियाँ तो सामाजिक दस्तूर की बलि चढ़ गई यानी उन्हें उनके साथ ही दफना दिया गया। आदिवासियों की पहली शिक्षित पीढ़ी वाचिकता से निकल लिखित लेखन की ओर बढ़ी और वे अपनी बातों को लिखने और प्रकाशित करने का प्रयास करने लगे। जब ईसाई मिशनरी आए और यहाँ के लोगों के लिए काम करना शुरू किया तो उन्होंने पत्रिकाएँ निकाली। उन पत्र-पत्रिकाओं में यह पहली शिक्षित पीढ़ी लिख रही थी, लेकिन उसे तथाकथित मुख्यधारा ने साहित्यिक न मानकर धार्मिक श्रेणी में रखकर खारिज कर दिया। भक्ति साहित्य ही मान लेते। साहित्य के रूप में रामायण को लिया जा सकता है तो बाकी दूसरी चीजों को भी साहित्य की श्रेणी में लिया जा सकता है। झारखंड में राजनीतिक समझ बहुत तेजी से विकसित हुई क्योंकि यहाँ पर संघर्ष हमेशा से रहा। अतः बहुत सारी पत्रिकाएँ लोग निकाल रहे थे जो सामाजिक और राजनीतिक पत्रिकाएँ थी। दूसरी बात यह है कि उन्हें लिखने का कोई मंच नहीं मिलता था क्योंकि उनके लेखन की शैली भिन्न थी, उनकी भाषा

भिन्न थी। लिखी हिन्दी में जा रही है, लेकिन वह शुद्ध हिन्दी के पैमाने पर फिट नहीं बैठ रही थी। इसीलिए खारिज किया जाता था। सिर्फ इसलिए कि उसमें मौलिकता और स्थानीयता का पुट अधिक था। यही कारण है कि नामचीन पत्र-पत्रिकाओं में उनकी लेखनी को कोई स्थान नहीं मिला था। लिहाजा उन्होंने अपनी सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक जरूरतों की पूर्ति के लिए स्वयं पत्र-पत्रिकाएँ निकाली। उसमें लिखा और आदिवासी लेखन को सामने लाने का प्रयास किया। अपनी बात कहने का प्रयास किया जिसमें हम देखेंगे कि वे अपने संघर्ष, अधिकार के साथ ही सांस्कृतिक और सामाजिक परिवेश को सामने ला रहे थे जिसमें स्पष्टतः सौंदर्यबोध, जीवन मूल्य और दर्शन तो थे ही, साथ ही उनकी अपनी भाषा-शैली और कथ्य भी थे। अर्थात् आदिवासी साहित्य का स्वरूप वाचिकता को साथ लेते हुए सचेत लेखन की ओर बढ़ा जो वर्तमान में और भी स्पष्ट होकर सामने आया है। अर्थात् अपने जीवन दर्शन, विश्वदृष्टिकोण के साथ ही शब्दों के चयन आदि को लेकर के सचेत है।

प्रश्न: आपकी दृष्टि में आदिवासी साहित्य और गैर आदिवासी साहित्य में क्या पार्थक्य है?

उत्तर: आदिवासी और गैर आदिवासी - यह दो अलग समाज एवं संस्कृति हैं जिनकी अलग सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और आर्थिक व्यवस्थाएँ हैं, अलग विश्वदृष्टिकोण और मूल्य हैं। यही व्यक्ति को प्रभावित करती है। यह फर्क जीवन से लेकर उसके नजरिए, व्यवहार और साहित्य में भी स्पष्ट नजर आता है।

प्रश्न: किस तरह के उपन्यासों को आदिवासी उपन्यास की परंपरा में शामिल करना चाहिए?

आपके विचार बताइए।

उत्तर: उपन्यास हो या कोई भी साहित्यिक विधा, चाहे उसे कोई भी लिखे आदिवासी या गैर आदिवासी जब तक वह आदिवासी दर्शन के अनुरूप नहीं होगा उसे आदिवासी साहित्य या उपन्यास नहीं माना जा सकता है। आदिवासी दर्शन कहता है कि कोई भी श्रेष्ठ या अश्रेष्ठ

नहीं है, कोई भी सुंदर या असुंदर नहीं है। हर किसी का अपना महत्व और गरिमा है। सृष्टि की अवहेलना नहीं होनी चाहिए। और भी कई सारे बिन्दु हैं जिन्हें आदिवासी अपने दर्शन में मानते हैं। अगर आदिवासियत के ये सारे बिन्दु किसी भी कृति में नहीं हो तो उसे आदिवासी साहित्य कहना उचित नहीं होगा। आदिवासी नाम होने से या आदिवासी के ऊपर लिखे होने भर से उसे आदिवासी साहित्य नहीं माना जा सकता है। उसमें आदिवासियत का होना आवश्यक है।

प्रश्न: विकास की जो अवधारणा प्रचलित है, क्या आपकी दृष्टि में विकास की वही अवधारणा है या उससे भिन्न है?

उत्तर: यह जो विकास की अवधारणा गढ़ी गई है वह पूंजी, मुनाफा, शोषण के इर्द-गिर्द घूमती है। मेरा तथा आदिवासी समुदाय का विकास की इस अवधारणा से कोई लेना-देना नहीं है क्योंकि यह विकास सिर्फ मुनाफा को देखता है, प्रकृति और मानवता के प्रति संवेदनशील नहीं है। यह मॉडल सर्वहितकारी हो ही नहीं सकता है और जो सर्वहितकारी नहीं हो सकता है वह सर्वमान्य विकास का मॉडल कैसे हो सकता है? विकास का यह मॉडल सिर्फ अपने बारे में सोचने को कहता है और दूसरे के शोषण, प्रकृति का दोहन पर जोर देता है। जबकि आदिवासियत हमें विकास का जो मॉडल देती है उसमें प्रकृति के हरेक सूक्ष्म से सूक्ष्म जीव और निर्जीव दोनों के हित की चिंता के साथ ही संतुलन पर बल दिया जाता है। अर्थात् व्यक्ति केन्द्रित नहीं, जमाखोरी नहीं, सब चीज सबके लिए है। यही विकास की अवधारणा आदिवासियत के नजर से है।

प्रश्न: भूमंडलीकरण के दौर में सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक स्तर पर आदिवासियों की पहचान, अस्मिता संकट में पड़ती दिखाई दी है। आदिवासी उपन्यास के बदलते स्वरूप पर अपने विचार व्यक्त कीजिये।

उत्तर: भूमंडलीकरण का असर सिर्फ और सिर्फ आदिवासियों पर नहीं पड़ा है, सब पर पड़ रहा है। लेकिन हम जिस व्यवस्था में रहते हैं वह बहुसंख्यकवाद की व्यवस्था है। इसलिए उनको लगता है कि वे सुरक्षित हैं और अल्पसंख्यक खतरे में हैं। जबकि भूमंडलीकरण की व्यवस्था ने सबको खतरे में डाला है। जितना आदिवासियों की सामाजिक, आर्थिक स्थिति पर इनका प्रभाव पड़ रहा है उतना ही गैर आदिवासियों पर भी प्रभाव पड़ता दिखाई दे रहा है। भूमंडलीकरण एक उपभोक्तावादी व्यवस्था है। एक लूट रहा है और दूसरा लूटे जाने से बचने और बचाने की कोशिश कर रहा है तथा उसका यह जो बचाव की कोशिश है वह केवल अपने लिए नहीं है, बल्कि सबके लिए है।

कुछ उपन्यासों में गंभीर मुद्दों को उठाया गया है, लेकिन अधिकांशतः आदिवासियों के संघर्षों को एकांगी दृष्टिकोण से देखा गया है। ज्यादातर उपन्यासों में सामूहिकता, सामुदायिकता को छोड़कर मसीहाई दृष्टिकोण को रखा गया है।

प्रश्न: आपने अपनी रचनाओं में आदिवासी स्त्री जीवन को किस रूप में अभिव्यक्त किया है?

उत्तर: मेरी रचनाओं में आदिवासी स्त्री काफी सशक्त है जो संघर्ष करती है, लड़ती है और रचती है। वह सिर्फ अपने लिए नहीं लड़ती, सिर्फ अपने हक, सम्मान की बात नहीं करती, बल्कि समुदाय के साथ जुड़कर साथ खड़े होकर लड़ती और रचती है। वह अपने लड़ने का तरीका अपने समाज के माध्यम से निकालती है न कि गैर आदिवासी औजारों से लड़ती है। दूसरों के दिये हुए औजारों को चलाने का तरीका न तो उन्हें पता है और न ही उसकी मारक क्षमता का ज्ञान है। इसीलिए वह अपने समुदाय के साथ खड़े होकर संघर्ष करना, बचाना और बनाने का, रचने का काम करती दिखाई देती है।

प्रश्न: बाहरी समाज से आदिवासियों के संपर्क को आप किस दृष्टि से देखती हैं?

उत्तर: आदिवासियों ने हर किसी को खुले दिल से प्रेम और सम्मानपूर्वक अपनाया पर बदले में बाहरी समाज ने न तो उन्हें सम्मान दिया, न प्रेम और न ही खुले दिल से अपनाया। छल, कपट, शोषण, दबंगई ही उन्हें मिला और हर तरह से लूटे जाते रहे। दुनिया के किसी भी कोने में आदिवासियों और बाहरी समाज का संबंध बराबरी का नहीं है। झारखंड में हम कहते हैं कि वह हमारे घर में पनाह मांगने आए हमने उन्हें पनाह दी, लेकिन उन्होंने क्या किया? हमें ही बेघर करने की कोशिश की। आदिवासियों का मानना है कि गैर आदिवासियों के साथ किसी भी तरह का संबंध विकसित करना अपने समुदाय और अपने रहवास के साथ-साथ अपने संस्कृति को खतरे में डालना है क्योंकि बाहरी संस्कृति हमेशा से वर्चस्ववादी और दबंगई करने वाली रही है। उन्होंने जल, जंगल, जमीन छीना है तो लूटने वाले के साथ संबंध सहज कैसे हो पाएगा? वह हमेशा शक के घेरे में रहेगा और है।

प्रश्न: शिक्षा में आदिवासियों की क्या स्थिति है? उनकी परंपरागत शिक्षा व्यवस्था के बारे में बताइए।

उत्तर: आज की शिक्षा व्यवस्था के तहत आदिवासियों की स्थिति को देखें तो निश्चित रूप से आदिवासी शिक्षित हो रहे हैं। यह अच्छी बात है लेकिन उस शिक्षा का सबसे बुरा पहलू यह है कि इस शिक्षा ने हमको अपनी मातृभाषा से काटा है। अपनी दुनिया से हमको काट कर दूसरी दुनिया में लाने का कार्य किया जा रहा है। जिस शिक्षा व्यवस्था के तहत हम शिक्षित हो रहे हैं वहाँ हमारा संस्कृति, समाज, इतिहास कुछ भी नहीं है। आदिवासी जंगल, जमीन से जुड़े लोग हैं और ये उनके लिए बहुत महत्वपूर्ण है। लेकिन तथाकथित शिक्षा व्यवस्था जंगल, जमीन को सिर्फ संसाधन के बतौर देखने को बाध्य करती है और समस्त संवेदनशीलताओं का बहिष्कार करती है। इस शिक्षा व्यवस्था के तहत लोगों के दिमाग में यह बात डाली जाती है कि पढ़ोगे, लिखोगे तभी नवाब बनोगे। जबकि यह बिल्कुल झूठ है। इस शिक्षा व्यवस्था में ज्ञान और अनुभव से कोई जुड़ाव नहीं है। सिर्फ पैसे की बात यहाँ

होती है जबकि आदिवासियों की परंपरागत शिक्षा व्यवस्था को ध्वस्त कर दिया गया। वहाँ श्रम, ज्ञान, अनुभव की महत्ता होती थी। डिग्री नहीं बल्कि अनुभव और ज्ञान का महत्त्व होता था। व्यावहारिक जीवन की चुनौतियों का सामना करने की शिक्षा दी जाती थी। सामाजिक, सामुदायिक और पारिवारिक जीवन में संतुलित व्यवहार की शिक्षा दी जाती थी।

प्रश्न: गैर आदिवासी समाज की स्त्रियों और आदिवासी समाज की स्त्रियों की स्थिति में फर्क बताइए।

उत्तर: अलग संस्कृति, अलग सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक व्यवस्था और अलग सामाजिक नजरिया गैर आदिवासी और आदिवासी स्त्री को अलग करती है। गैर आदिवासी समाज में स्त्री देवी, दासी, उपभोग की वस्तु मानी जाती है। स्त्री वहाँ इंसान होने की मांग कर रही है। मुक्ति की तलाश में 'मैं' को खोजती हुई है। बंधनों से जकड़ी हुई है, लेकिन आदिवासी स्त्री बराबरी को जीती हुई स्वतंत्र और सशक्त है। मुक्ति की तलाश है पर व्यक्तिगत नहीं जल, जंगल, जमीन और समुदाय के निहितार्थ।

प्रश्न: स्त्री जीवन संघर्ष का पर्याय है - इस कथन से आप कहाँ तक सहमत हैं?

उत्तर: स्त्री जीवन संघर्ष का पर्याय नहीं है। स्त्रियाँ श्रमशील होती हैं, संवेदनशील होती हैं और सृजनशील होती हैं इसलिए वह दुनिया को सुंदर बनाने के लिए हमेशा प्रयासरत रहती है। तमाम तरह के अवरोध के बावजूद उनका रचनात्मक बोध खत्म नहीं होता है। उनकी जीवटता उनकी रचनात्मकता में है। इस व्यवस्था में हर कोई संघर्ष कर रहा है। दायम दर्जे के टैग को हटाना अपने आप में एक संघर्ष है, लेकिन हम उसे पर्याय नहीं कह सकते हैं। स्त्री जीवन का पर्याय रचनात्मकता को मानना पड़ेगा क्योंकि तमाम चीजों को हटाते हुए अपना रास्ता तय करती है और सिर्फ अपने लिए नहीं, बल्कि पूरे मानवजनित व्यवस्था को सही करने की कोशिश करती है। संघर्ष हर कोई करता है, लेकिन रचनात्मकता कौन बचाए रखता है? अपने लिए भी और सबके लिए भी। जो इसे बचाए रखता है उसका संघर्ष

पर्याय हो ही नहीं सकता है, बल्कि स्त्री जीवन का पर्याय रचनात्मकता है। स्त्री जीवन जीवटता का पर्याय हो सकता है, सौन्दर्य का पर्याय हो सकता है, लेकिन संघर्ष का पर्याय नहीं हो सकता है।

प्रश्न: आपकी दृष्टि में महिला सशक्तिकरण से क्या अभिप्राय है?

उत्तर: स्त्री में स्वयं से निर्णय लेने की क्षमता का होना उसका सशक्त होना है और इस व्यवस्था में जो पितृसत्तात्मक व्यवस्था है वह महिलाओं को क्या सशक्त करेगी? आदिवासी महिलाएँ सशक्त होती हैं। लेकिन जो भी इस व्यवस्था में आएगा वह अशक्त ही होगा। गैर आदिवासी को तो इस सत्ता ने अशक्त बनाया ही है, लेकिन यदि आदिवासी महिलाएँ भी इस व्यवस्था को अपनाती हैं तो यह सत्ता भी उन्हें अशक्त ही बनाएगी क्योंकि कोई भी सत्ता या व्यवस्था किसी को भी स्वतंत्र निर्णय लेने के लिए प्रोत्साहित नहीं करेगी। अन्यथा वह खतरे में आ जाएगी।

प्रश्न: वर्तमान संदर्भ में आदिवासी साहित्य लिखित रूप में विकसित हो रहा है। भाषागत शुद्धता कितना और किस अर्थ में मायने रखती है?

उत्तर: आदिवासी भाषाएँ शास्त्र, व्याकरण, मापदंड के द्वारा तय नहीं होती हैं। इसीलिए जब हम शुद्धता-अशुद्धता की बात करते हैं वहाँ से चीजों में बदलाव शुरू हो जाता है। आदिवासी भाषाओं की अपनी खासियत है। वहाँ विविधता है, पर्यायों की अधिकता है, लिंगभेद नहीं है, श्रेष्ठता बोध नहीं है, गरिमामय अभिव्यक्ति है। इसीलिए जब साहित्य आदिवासी भाषा में लिखी जाती है तो उसकी अपनी सुगंध होती है। जैसे ही हिन्दी में आदिवासी साहित्य आता शुद्धता-अशुद्धता शुरू हो जाता है, लिंगभेद शुरू हो जाता है, श्रेष्ठ-अश्रेष्ठ का भाव शुरू हो जाता है। हिन्दी भी एक जैसी सभी जगह नहीं बोली जाती है तो कौन अच्छी हिन्दी है, शुद्ध हिन्दी है नहीं कही जा सकती है। हरेक में उसकी स्थानीयता, उसकी बुनावट और उसकी गंध होती है। इसीलिए हरेक साहित्य का चाहे वह हिन्दी साहित्य हो, आदिवासी

साहित्य हो या अंग्रेजी साहित्य हो, अपना-अपना लिखने का तरीका सौन्दर्य, शैली होगा। वहीं से खत्म होने का खतरा शुरू हो जाता है। अतः भाषागत शुद्धता बहुत मायने नहीं रखनी चाहिए। साहित्य को इससे मुक्त ही रखना चाहिए।

प्रश्न: आपकी आगामी योजनाएँ क्या हैं?

उत्तर: मेरी योजना है कि मैं आत्मसंस्मरण लिखूँ। मैं बच्चों के लिए साहित्यिक कार्य करना चाहती हूँ। आदिवासी साहित्य को लेकर कुछ काम करना शेष है। इसके अलावा विभिन्न देशों व विभिन्न राज्यों में हमारे समुदायों का जो योगदान रहा है उस पर काम करने की योजना है। असम, बंगाल, झारखंड, उड़ीसा और बिहार के अलावा नेपाल, बांग्लादेश क्षेत्रों में, उनके इतिहास को देखना और उस पर काम करने की योजना शामिल है। खड़िया समुदाय का बड़े पैमाने पर इतिहास बिखरा पड़ा है, कई सारे लोग हैं जिनका महत्वपूर्ण योगदान रहा है, उन सारे लोगों के इतिहास को सामने लाने का प्रयास है। कविताएं और आलोचनात्मक लेखन सतत चल रहे हैं। झारखंड के आठ आदिम आदिवासी समुदाय हैं उनके साहित्य पर और काम करना है, उनके दस्तावेजीकरण पर काम करना है। कुछ आदिवासी समुदायों की इच्छा है कि उन पर काम किया जाए जिनमें बिरहोर, पहाड़िया आदिवासी समुदाय शामिल हैं। तो उनके इतिहास और साहित्य को लेकर कार्य करने की योजना है। कुल मिलाकर यही है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

संदर्भ ग्रंथ सूची

आधार ग्रंथ :

1. कुमार, विनोद, रेड जोन, अनुज्ञा बुक्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2015
2. कुमार, विनोद, समर शेष है, प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, संस्करण: 2005
3. तरुण, वाल्टर भेंगरा, लौटते हुए, सत्य भारती प्रकाशन, रांची, प्रथम संस्करण: 2005
4. तेजिन्दर, काला पादरी, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2002
5. पंकज, अश्विनी कुमार, माटी माटी अरकाटी, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण: 2016
6. पुष्पा, मैत्रेयी, अल्मा कबूतरी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, तीसरी आवृत्ति: 2011
7. मीणा, हरिराम, धूणी तपे तीर, साहित्य उपक्रम, हरियाणा, तृतीय संस्करण: 2014
8. मुंडा, मंगल सिंह, छैला सन्दु, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पहला संस्करण: 2004
9. रणेन्द्र, गायब होता देश, पेंगुइन रैंडम हाउस इंडिया प्रा. लि., हरियाणा, प्रथम संस्करण: 2014
10. रणेन्द्र, ग्लोबल गाँव के देवता, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, पांचवा संस्करण: 2019
11. संजीव, जंगल जहाँ शुरू होता है, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, दूसरी आवृत्ति: 2015
12. सिंह, राकेश कुमार, जो इतिहास में नहीं है, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, पहला संस्करण: 2005
13. सिंह, राकेश कुमार, हुल पहाड़िया, सामयिक बुक्स, नई दिल्ली, संस्करण: प्रथम 2012

सहायक ग्रंथ

1. अग्रवाल, केदारनाथ, फूल नहीं, रंग बोलते हैं, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण: 2009
2. अग्रवाल रोहिणी, साहित्य का स्त्री स्वर, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण: 2016
3. अटल, योगेश, श्यामाचरण दूबे(संपा.), आदिवासी भारत, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण: 1965
4. अनुराग, फैसल (संपा.), घनश्याम, सुनील मिंज, झारखंड में सुशासन, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण: 2016
5. उपाध्याय, रमेश, संज्ञा उपाध्याय (संपा.), भाषा और भूमंडलीकरण, शब्दसंधान प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2008
6. कलासवा, डॉ. बी. के., हिन्दी के आदिवासी जीवन केन्द्रित उपन्यासों का समीक्षात्मक अध्ययन, ज्ञान गंगा, दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2009
7. किस्कू, आशा सुषमा, आदिवासियों का संसार, प्यारा केरकेट्टा फाउंडेशन, रांची, प्रथम संस्करण: 2020
8. कुरे, डॉ. रमेश सम्भाजी, डॉ. मालती धोंडोपंत शिंदे (संपा.), आदिवासी साहित्य विविध आयाम, विकास प्रकाशन, कानपुर, प्रथम संस्करण: 2013
9. कुमार, विनोद, विकास की अवधारणा, अनुज्ञा बुक्स, दिल्ली, संस्करण: 2016
10. केरकेट्टा, जसिंता, ईश्वर और बाज़ार, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण: 2022
11. केरकेट्टा, जसिंता, जड़ों की जमीन, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, संस्करण: 2018
12. केरकेट्टा, रोज, स्त्री महागाथा की महज एक पंक्ति, नॉशन प्रेस, प्रथम संस्करण: मार्च 2021

13. गव्हाडे, डॉ. भगवान, एकलव्य का अंगूठा, ए. आर. पब्लिशिंग कंपनी, दिल्ली, संस्करण: 2019
14. गुप्ता, मनीष कुमार (संपा.), आदिवासी समाज और हिन्दी उपन्यास, अनुसंधान पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, कानपुर, प्रथम संस्करण: 2017
15. गुप्ता, रमणिका (संपा.), आदिवासी कौन, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, दूसरी आवृत्ति: 2013
16. गुप्ता, रमणिका, आदिवासी लेखन एक उभरती चेतना, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण: 2017
17. गुप्ता, रमणिका (संपा.), आदिवासी लोक-1, शिल्पायन, दिल्ली, द्वितीय संस्करण: 2012
18. गुप्ता, रमणिका, आदिवासी: विकास से विस्थापन, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, छठा संस्करण: 2021
19. गुप्ता, रमणिका (संपा.), आदिवासी समाज और साहित्य, कल्याणी शिक्षा परिषद, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2015
20. गुप्ता, रमणिका, आदिवासी साहित्य यात्रा, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण: 2008
21. गुप्ता, रमणिका, निज घरे परदेसी, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2004
22. गुप्ता, रमणिका, मौसी, नीलकंठ प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण: 1997
23. गुप्ता, रमणिका, सीता, अनुराग प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण: 1996
24. चंदेल, डॉ. उपेन्द्र सिंह, डॉ. दिलीप मेहरा, आदिवासी संवेदना और हिन्दी उपन्यास, उत्कर्ष पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, कानपुर, प्रथम संस्करण: 2017
25. चौधरी, डॉ. प्रमोद, आदिवासी केन्द्रित हिन्दी उपन्यास, विद्या प्रकाशन, कानपुर, प्रथम संस्करण: 2017

26. चौहान, कुमार, रेनू चौहान (संपा.), आदिवासी स्वर-4 सामाजिक-आर्थिक जीवन, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, आवृत्ति: 2017
27. टेटे, वंदना, आदिवासी साहित्य परंपरा और प्रयोजन, प्यारा केरकेट्टा फाउंडेशन, राँची, प्रथम संस्करण: 2013
28. टेटे, वंदना, ऑरेचर और आदिवासियत की पत्थलगड़ी, नोशन प्रेस, भारत, प्रथम संस्करण: 2021
29. टेटे, वंदना (संपा.), लोकप्रिय आदिवासी कहानियाँ, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2017
30. टेटे, वंदना, वाचिकता आदिवासी दर्शन, साहित्य और सौन्दर्यबोध, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, पहला संस्करण: 2020
31. टोप्पो, महादेव, सभ्यों के बीच आदिवासी, अनुज्ञा बुक्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2018
32. डॉ. अनुशब्द (संपा.), पूर्वोत्तर भारत का जनजातीय साहित्य, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2017
33. डॉ. अनुशब्द, लोक और शास्त्र जनजातीय साहित्य, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2017
34. तलवार, डॉ. वीर भारत, झारखंड के आदिवासियों के बीच एक एक्टीविस्ट के नोट्स, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, दूसरा संस्करण: 2012
35. तुमराम, डॉ. विनायक, आदिवासी और उनका निसर्ग धर्म, सुधीर प्रकाशन, वर्धा, प्रथमावृत्ति: 2016
36. तुषामड़, पूनम, मेले में लड़की, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2012
37. तोपनो, हेरॉल्ड एस, उपनिवेशवाद और आदिवासी संघर्ष, विकल्प प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2016

38. थ्योंगों, न्गुगी वा, औपनिवेशिक मानसिकता से मुक्ति, ग्रंथशिल्पी प्रकाशन, दिल्ली, द्वितीय एवं संशोधित संस्करण: 2010
39. दूबे, श्यामचरण, समय और संस्कृति, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, द्वितीय संस्करण: 2000
40. पंकज, अश्विनी कुमार (संपा.), आदिवासियत, प्यारा केरकेट्टा फाउंडेशन, रांची, प्रथम संस्करण: 2018
41. पंकज, अश्विनी कुमार, पाँचवीं-छठी अनुसूची और आदिवासी स्वशासन संघर्ष, प्यारा केरकेट्टा फाउंडेशन, रांची, पहला संस्करण: 2022
42. पंकज, अश्विनी कुमार (संपा.), आदिवासी प्रेम कहानियाँ, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण: 2019
43. पंकज, अश्विनी कुमार (संपा.), संविधान-सभा में जयपाल, प्यारा केरकेट्टा फाउंडेशन, रांची, प्रथम संस्करण: 2020
44. पांडेय, पं. रामदीन, चलती पिटारी, गंगा पुस्तकमाला कार्यालय, लखनऊ, प्रथमावृत्ति: 1944
45. पाठक, मनमोहन, गगन घटा घहरानी, कतार प्रकाशन, धनबाद, प्रथम संस्करण: 1991
46. मिश्र, श्रीप्रकाश, जहाँ बाँस फूलते हैं, यश पब्लिकेशन्स, दिल्ली, संशोधित संस्करण: 2011
47. मिश्र, श्रीप्रकाश, रुपतिल्ली की कथा, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण: 2006
48. मिंज, सुनील, ग्लैडसन डुंगडुंग, विकास के कब्रगाह, देशज प्रकाशन, रांची, संस्करण: 2013
49. मीणा, केदार प्रसाद, आदिवासी: समाज, साहित्य और राजनीति, अनुज्ञा बुक्स, प्रथम संस्करण: 2014
50. मीणा, गंगा सहाय, आदिवासी चिंतन की भूमिका, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, द्वितीय पुनर्मुद्रण: 2021
51. मीणा, गंगा सहाय (संपा.), आदिवासी साहित्य विमर्श, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लिमिटेड, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2014

52. मीणा, डॉ. जनक सिंह, डॉ. कुलदीप सिंह मीणा (संपा.), भारत के आदिवासी: चुनौतियाँ एवं संभावनाएँ, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2017
53. मुंडा, रामदयाल, आदिवासी साहित्य और झारखंडी अस्मिता के सवाल, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2002
54. मीणा, हरिराम, आदिवासी दर्शन और समाज, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, प्रथम संस्करण: 2020
55. मीणा, हरिराम, आदिवासी दुनिया, नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, पहला संस्करण: 2013
56. यालाम, जोराम, जंगली फूल, अनुज्ञा बुक्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2019
57. राय, प्रतिभा, आदिभूमि, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, पहला संस्करण: 2001
58. लुगुन, अनुज (संपा.), आदिवासी अस्मिता प्रभुत्व और प्रतिरोध, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण: 2018
59. लुगुन, अनुज, पत्थलगड़ी, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2021
60. लुगुन, अनुज, बाघ और सुगना मुण्डा की बेटा, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2017
61. वर्मा, वृन्दावनलाल, कचनार, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण: 2008
62. शर्मा, रामविलास, महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, दूसरी आवृत्ति: 2008
63. शाक्य, हरीशचन्द्र, आदिवासी और उनका इतिहास, अनुराग प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2011
64. संजीव, धार, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण: 2011
65. सत्यर्थी, देवेन्द्र, रथ के पहिए, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण: 1953
66. सिएटिल, चीफ, प्रमुख के नाम पत्र, भारतीय ज्ञान विज्ञान समिति, नई दिल्ली, संस्करण: 2006

67. सिन्हा, अनुज कुमार (संपा.), झारखंड के आदिवासी पहचान का संकट, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2019
68. सिंह, पुन्नी, सहराना, ग्रंथ केतन, दिल्ली, संस्करण: 2012
69. सिंह, राकेश कुमार, महाअरण्य में गिद्ध, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2016
70. सोनटक्के, डॉ. माधव, डॉ. संजय राठोड, भारतीय साहित्य और आदिवासी विमर्श, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2017
71. हेम्ब्रम, डॉ. रतन, संताली लोकगीतों में साहित्य और संस्कृति, माधा प्रकाशन, जमशेदपुर, संस्करण: 2005

अंग्रेजी पुस्तक

1. Frowde, Henry, The Imperial Gazetteer of India: vol.I, The University of Oxford, Ed.: 1907
2. Majumdar, D.N., Races & Cultures of India, Universal Publishers Ltd, Lucknow, Revised Edition: 1944
3. Roy, Sarat Chandra, The Mundas and Their Country, The Kuntaline Press, Calcutta, 1912
4. Tete, Vandana (Ed.), Natural Federalism or Un-Natural Feminism, Pyara Kerketta Foundation, Ranchi, First Edition: 2022
5. Thiong'o, Ngugi Wa, Secure the base, Seagull Books, Calcutta, Edition: 2016

कोश

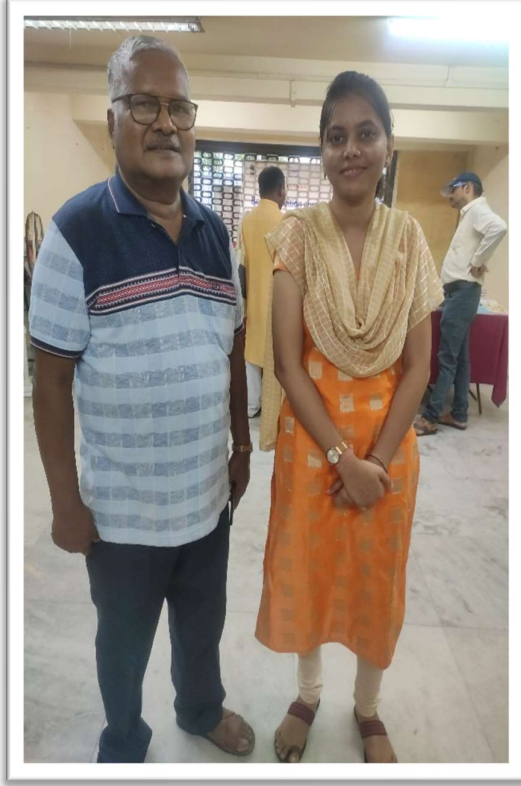
1. कुमार, डॉ. सुरेश, डॉ. रमानाथ सहाई (संपा.), ऑक्सफोर्ड अंग्रेजी-अंग्रेजी-हिन्दी शब्दकोश, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, संस्करण: जुलाई 2013
2. चातक, डॉ. गोविंद(संपा.), तक्षशिला आधुनिक हिन्दी शब्दकोश, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण: 2006
3. दीक्षित, कृष्णकान्त, सूर्यनारायण उपाध्याय (संकलनकर्ता), अमर मानक हिन्दी शब्दकोश, कमाल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण: नवीन
4. बाहरी, डॉ. हरदेव, राजपाल हिन्दी शब्दकोश, राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली, संस्करण: नवां संस्करण - 1995
5. बुल्के, फादर कामिल, अंग्रेजी हिन्दी कोश, एस. चन्द एण्ड कम्पनी लि., नई दिल्ली, संस्करण: 1990

पत्र पत्रिकाएँ :

1. अपूर्वानंद (संपा.), आलोचना त्रैमासिक, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, अंक-53, जनवरी-मार्च 2015
2. गुप्ता, रमणिका (संपा.), युद्धरत आम आदमी, वर्ष-2, अंक-1, अक्टूबर 2013
3. गुप्ता, रमणिका (संपा.), युद्धरत आम आदमी, वर्ष-2, अंक-14, नवंबर 2014
4. गुप्ता, रमणिका (संपा.), युद्धरत आम आदमी, वर्ष-3, अंक-21, जून 2015
5. गुप्ता, रमणिका (संपा.), युद्धरत आम आदमी, वर्ष-4, अंक-37, सितम्बर-2016
6. गुप्ता, रमणिका (संपा.), युद्धरत आम आदमी, वर्ष-4, अंक-40, जनवरी-2017
7. सागर, शैलेन्द्र (संपा.), कथा क्रम, अंक: 50, वर्ष: 14, अक्टूबर-दिसम्बर 2011
8. मीणा, गंगा सहाय (संपा.), आदिवासी साहित्य, वर्ष-1, अंक-1, जनवरी-मार्च 2015
9. मीणा, गंगा सहाय (संपा.), आदिवासी साहित्य, वर्ष 1, अंक 2, अप्रैल-जून 2015
10. मीणा, गंगा सहाय (संपा.), आदिवासी साहित्य, वर्ष 1, अंक 3, जुलाई-सितंबर 2015
11. मीणा, गंगा सहाय (संपा.), आदिवासी साहित्य, वर्ष 2, अंक 4-5, अक्टूबर 2015-मार्च 2016
12. मीणा, गंगा सहाय (संपा.), आदिवासी साहित्य, अंक: 6, अप्रैल-जून 2016
13. टेटे, वंदना (संपा.), झारखंडी भाषा साहित्य संस्कृति अखड़ा, वर्ष-9, अंक-2, जून-अगस्त: 2015
14. Goswami, Bhaskar Jyoti (Ed.), Tribal Studies, Vol-1, No.: 1&2

वेबलिंगक एवं अन्त्य संदर्भ

1. <https://adivasiemergence.com/2022/05/10/netarhat-movement-jharkhand-adivasi/>
2. <https://hindi.mongabay.com/2022/05/03/tribals-protesting-to-save-trees-in-hasdeo-aranya/>
3. <https://downtoearth.org.in/coverage/koelkaro-jharkhand-13200>
4. <https://hindi.caravanmagazine.in/environment/jharkhand-mandal-dam-adivasi-protest-hindi>
5. <http://saathijohaar.com/2020/03/30/2.html>
6. <http://saathijohaar.com/2020/04/05/1.html>
7. <https://www.facebook.com/AdivasiLiterature/photos/a.159734160887444.1073741828.159723914221802/207916929402500/?l=9e1923f0cc>
8. https://www.hmoob.in/wiki/Religious_text
9. https://hi.unionpedia.org/i/ओलचिकि_लिपि
10. <https://youtu.be/RjiN5FY11bY>
11. <https://hi.wikipedia.org/wiki/पत्थलगड़ी>
12. <https://saathijohaar.com/2019/02/03/4.html>
13. <https://facebook.com/108813620821971/posts/133202681716398/>
14. <https://adivasiyat.in/apr-2022-ml-20/>
15. <https://indiantribalheritage.org/?p=21797>
16. <https://youtu.be/KJu9ZtnGGGE>
17. <http://saathijohaar.com/2020/03/30/2.html>
18. <http://saathijohaar.com/2020/04/05/3.html>
19. <https://eurasianet.org/turkey-village-preserves-bird-language-in-a-cell-phone-world>



प्रसिद्ध आदिवासी लेखक वाल्टर भंगरा
'तरुण' के साथ शोधार्थी निधि कुमारी गुप्ता



विख्यात आदिवासी लेखिका वंदना टेटे के साथ
शोधार्थी निधि कुमारी गुप्ता



आदिवासियत कार्यशाला में भाग लेने के दौरान लेखक अश्विनी कुमार पंकज तथा अन्य
साथियों के साथ शोधार्थी निधि कुमारी गुप्ता

मुख्यपृष्ठ > 37

शोध आलेख : संस्कृति की ओर 'लौटते हुए' ('लौटते हुए' उपन्यास / निधि कुमारी गुप्ता

सम्पादक, अपनी माटी सोमवार, नवंबर 01, 2021



शोध आलेख : संस्कृति की ओर 'लौटते हुए' ('लौटते हुए' उपन्यास के संदर्भ में) / निधि कुमारी गुप्ता

शोध सार :

संस्कृति जीवन जीने की कला है। हमारे खान-पान, हमारी वेशभूषा, हमारा रहन-सहन तथा हमारी भाषा संस्कृति का अंग है। अभिव्यक्ति का माध्यम है जो मनुष्य के जीवन जीने के तरीके को विकसित करती है और अंत में जीवन दर्शन बन जाती है। कहने का तात्पर्य मानवीय मूल्यों को संरक्षित कर अस्थायी रूप से अग्रसर होती जाती है। कोई भी संस्कृति उच्च या तुच्छ नहीं होती है। प्रत्येक संस्कृति में एक सौन्दर्यबोध के कारण श्रम की महत्ता सिद्ध होती है। हरिराम मीणा के कथनानुसार, "मानव समाज का जो आदिम दर्शन है उससे आदमी सभ्यताओं का निर्माण करता है और इसीलिए वह सुंदर है। संस्कृतियों के विकास के पीछे एक किस्म का सौन्दर्य बोध होता है जिसे उपक्रम जीवन से जुड़ी गतिविधि बन जाती है।"^[1]

संस्कृति हमें अपने पुरखों द्वारा विरासत में मिली है और यह पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित होती है, अतः इसमें परिवर्तन स्वाभाविक है। नहीं होती है। प्रत्येक संस्कृति की अपनी विशेषताएँ होती हैं। संस्कृति समाज से भिन्न नहीं है, बल्कि वह समाज में ही पल्लवित होती है। अनुभव किया जा सकता है तभी संस्कृति में वास्तविक रूप से निखार आ सकता है। सुप्रसिद्ध लेखिका प्रतिभा राय द्वारा रचित उपन्यास संदर्भ में द्रष्टव्य है- "संस्कृति को सिर्फ बाहर से नहीं देखा जा सकता और न ही यह दिखाने की चीज़ है। बाहर-बाहर से देखकर इसे पूरी तस्वीर नहीं है। दरअसल संस्कृति को अपने अंदर अनुभव कर, उसमें रच-बस कर ही उसकी बहुरंगी छवियाँ उकेरी जा सकती है।"^[2] आवश्यक है करने की, उससे संपृक्त होने की तथा उसे अनुभव करने की, तभी संस्कृति अपने अस्तित्व, अपनी पहचान में उभर सकती है। अतः 'लौटते हुए' उपन्यास संस्कृति से भटकाव से वापस अपनी संस्कृति की ओर लौटने की कथा है। वैश्रीकरण क इर